सामायिक-स्वरूप

कविवर्य्य मुनि श्रीनानचन्द्रजी स्वामी लिखित

"सामायिकनुं स्वरूप"

का

हिन्दी-अनुवाद

ाम संस्करण 1000 | कार्तिक शु० १५ सं० १९९० नवम्बर १९३३. | न्योछावर ।) आना

प्रकाशक—
पूरनचन्द जैन,
रोशनमोहल्ला,
आगरा।

उनके पिता जी ने उचित समझा कि उनकी स्मृति के वास्ते
कोई चीज़ संसार में रहे इस वास्ते कि सबसे श्रेष्ठ ज्ञान
है इस कारण समाज के बन्धुगणों के लाभार्थ
"सामायक-स्वरूप" छपवाकर भेंट स्वरूप
पेश किया, आशा है कि समाज व
धर्म प्रेमी-जन इससे अवश्य
लाभ उठावेंगे।

मुद्रक—
कपूरचन्द जैन
महावीर प्रेस,
किनारी बाजार—आगरा।

स्वर्गीय बाबू मित्रसिंह जैन
जन्म—श्रावण कृ० ७ सं० १९७० वि
मृत्यु—ज्येष्ठ शु० ११ सं० १९८८ वि०

स्वर्गीय श्री चित्रसिंह

श्री चित्रसिंह जी को ' स्वर्गीय ' लिखते हुए हृदय को जो मर्मान्तक पीड़ा होती है, वह शब्दों में प्रगट नहीं की जा सकती। जिसके पिता और पितामह जीवित हों, जिसके पालने वाली पितामही अभी संसार में हो, वह बालक स्वर्गधाम का वासी कहलाये, यह कराल काल की चोट है। श्री चित्रसिंहजी का जन्म सावन बदी ७ संवत् १९७० वि० को हुआ था, वह लगभग १८ साल तक इस दुनिया में खेल-कूद कर, अपनी लीलाओं से गृह, परिवार और प्रेमी, सम्बन्धियों को प्रसन्न कर जहा से आया था, वहीं चला गया। उसे क्या मालूम होगा ? इस संसार में उसके लिए कई आत्माएँ तड़पती होंगी, कितने मित्र, परिचित और सम्बन्धी उसके वियोग से दुखी होते होंगे।

ओसवाल जाति चोड़रिया गोत्र के सेठ चन्दनमल जी के पुत्र पूरनचन्द जी चित्रसिंह जी के पिता हैं। जिस समय चित्रसिंह जी का जन्म हुआ था, उसी समय से उनकी माता रुग्ण हो गईं थीं, और अपने ६ महीने के लाल को छोड़कर पहाड़ पर जाना पड़ा उस समय से उनका लालन पालन उनकी दादी ने किया था। जो उन्हें धौलपुर ले गईं। पीछे चित्रसिंह जी की मा चार साल तक बीमार रह कर परलोक सिधारीं। इसलिए चित्रसिंह जी ने अपनी दादी को ही अपनी मा समझा। वे उन्हीं की गोद में पले, उन्हीं के लाड़ प्यार की थपकिया सहीं। छः साल तक दादी के संरक्षण में पालन पोषण होते हुए उन्होंने केवल दुग्धाहार ही किया। और किसी चीज का खाना ही नहीं सीखा। तीन साल की उम्र में ही वे तीन तीन सेर तक प्रति दिन दूध पी जाते थे। इसका प्रभाव उनके आगे के जीवन के स्वास्थ्य पर पड़ा। उनका शरीर हृष्ट पुष्ट और बलिष्ट हो गया और अन्त तक उनका स्वास्थ्य ऐसा ही बना रहा।

सनातन जैन पाठशाला में चित्रसिंहजी का विद्यारंभ संस्कार हुआ। वहाँ वे दस वर्ष की अवस्था तक पढ़ते रहे। उन्हें खेल कूद, बाजा और मेशनरी के कार्य से बड़ा प्रेम था। अपने नाम की सार्थकता सिद्ध करने के लिए चित्र विद्या और प्रकृति निरी-

कला का अनुराग उन्हें अपने बालपन में ही पैदा हो गया था। माध्यमिक शिक्षा का कोर्स उन्होंने डी० ए० वी० और विक्टोरिया हाई स्कूल में पढ़कर समाप्त किया। विद्यार्थी जीवन में ही चौदह वर्ष की उम्र में उनका विवाह शिवपुरी निवासी श्रीयुत सेठ अमोलकचंदजी की सुपुत्री कमला देवी के साथ हो गया। आपनी शादी के लिए उन्होंने अन्त तक अनिच्छा प्रगट की थी। पर सब किसे मालूम था कि उनकी इस बात में किसी भावी अनिष्ट की संभावना छिपी थी, जिसे स्वयं वे भी नहीं जानते थे। जिस साल में मैट्रिक में पढ़ रहे थे, उसी समय उनमें फोटोग्राफी का शौक पैदा हुआ, बस सब काम धंधा छोड़ कर उसीके पीछे पड़ गए। यहाँ तक कि पढ़ाई लिखाई की तरफ भी विशेष ध्यान नहीं दिया। जिससे उस साल एन्ट्रेन्स की परीक्षा में असफल हुए।

दूसरी साल आपने मन लगा कर परिश्रम पूर्वक परीक्षा के लिए तैयारी की। फलतः उसमें पास हो गये। पर परीक्षा का फल ७ मीस जून सन् १६३१, को मालूम हुआ और २८ मई १६३१ को उन्होंने इस संसार को छोड़ दिया।

श्री चित्रसिंहजी एक होनहार युवक थे। लोगों को उनसे बड़ी आशाएँ थीं। जैन धर्म में उनकी अटूट श्रद्धा और भक्ति थी। धार्मिक कार्यों में उत्साह और प्रेम से भाग लेते रहे। राष्ट्रीय जागृति में वे किसी भारतीय युवक से पीछे नहीं थे। स्वदेशी का तो उन्होंने व्रत ले लिया था। विदेशी कपड़ों के बायकाट में उन्होंने क्रियात्मक भाग लिया। ड्राइंग में उनकी विशेष अभिरुचि थी और एन्ट्रेंस की परीक्षा में ड्राइंग में प्रथम नम्बर पास हुए थे। आपने बम्बई मैकेनिकल कालेज में अध्ययन करने के लिए लिखा था। पर तब तक दुर्दैव का प्रकोप हो गया। आप के जीवन की आशाएँ, सदूइच्छाएँ और कार्य क्रम जहाँ के तहाँ रह गये। खिलने से पहिले ही बाग के माली ने फूल तोड़ लिया जिससे भावी आशायें पूर्ण न हो सकीं।

धौलपुर
कार्तिक शु० १२ सं० १६८० } प्रतापसिंह

प्रस्तावना

'सामायिक' प्रत्येक श्रावक और श्राविकाओंके नित्य करने योग्य, सर्वोत्तम और एक आवश्यक क्रिया है। इसलिये प्रत्येक श्रावक-श्राविकाकेलिये उसका यथार्थ स्वरूप समझ लेना आवश्यक है। संसारके महदुपकारी तीर्थंकर, गणधर और आचार्योंने हमारे कल्याणकेलिये जो जो मार्ग बतलाये हैं, वे अत्युत्तम हैं। इतना ही नहीं, किन्तु उनमें अनेक रहस्य भी छिपे हुए हैं। सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करने पर यह बात स्पष्ट हुए बिना नहीं रहती। तो भी उक्त क्रियाका रहस्य समझे बिना अन्धपरम्परानुसार करते रहने से उसे हमने सामान्यरूपमें ला पटका है—एक मामूली बात बना ली है। सामायिकका वास्तविक स्वरूप क्या है और हमने उसको आजकल क्या रूप दे रक्खा है? इसकी जब मैं तुलना करूँगा तो आपको स्पष्ट मालूम हो जायगा कि वह क्रिया अब नाममात्रकी रह गई है। सामायिक जैसी उत्तम क्रियाके पवित्र शब्दोंको आजकलके अध्यापक या मा-बाप, जोकि वास्तवमें उसकी शिक्षाकेलिये अनधिकारी कहे जा सकते हैं, छोटे-छोटे बालकोंको बड़ी लापरवाहीके साथ सिखाते हैं और अशुद्ध सिखाते हैं। परिणाम इसका यह होता है कि लोग बालकपनसे सामायिक करना शुरू

करते हैं और करते-करते वृद्ध हो जाते हैं फिर भी वे उसके गम्भीर भाव, अलौकिक माहात्म्य और विशिष्ट चमत्कारों से जीवन पर्य्यन्त वञ्चित रहते हैं। क्योंकि उन्हें सामायिक शब्दका तथा उसके पाठोंका शब्दार्थ, भावार्थ, माहात्म्य और उद्देश्य कभी मालूम ही नहीं हो सका। इस तरह समाजका एक बहुभाग धर्मकी अन्धपरम्परामें चलता चला आ रहा है और धर्मकी वास्तविक स्थितिसे वह बिल्कुल बेखबर है। सामायिकका रहस्य नहीं समझनेसे प्रमादवश उसमें निन्दा, निद्रा, हास्य, कुतूहल, विकथा, मानसिक चञ्चलता आदि अनेक दोषोंका सेवन लोग करते हैं। इस प्रकारके दोष उसमें न लगने पावें—शुद्ध सामायिक हो जाय, इसलिये सामायिकके प्रत्येक जिज्ञासुको सामायिकका स्वरूप भली भांति समझ लेना चाहिये। सामायिकका यथार्थ स्वरूप समझ लेनेके बाद उसे आदरपूर्वक-प्रेमपूर्वक करनेसे वह परम हितका कारण बनता है। ऐसा न करनेसे उससे वास्तवमें जो लाभ करनेवालेको मिलना चाहिये, वह नहीं मिलता। जिससे कि मनुष्य श्रद्धाविहीन हो जाते हैं। जिस तरह कि चिन्तामणि रत्नका स्वरूप समझे बिना वह चकमक पत्थरके भावमें बिक जाया करता है। आज कलका समय बुद्धिप्रधानताका है। इसलिये शिक्षित वर्गके जबतक कोई क्रिया उसकी विशेषतासहित न बतलाई जायगी तबतक उनका मन उस क्रियामें लग नहीं सकता

उक्त क्रियाका रहस्य समझाये बिना—उनके दिमागमें उसकी विशेषतामें भरे बिना उनपर धार्मिक दवाब डालना व्यर्थ है।

आजकल समाजका शिक्षित समुदाय पाश्चात्य साहित्य के सहवाससे स्वधर्मकी ओरसे जो लापरवाह देखा जाता है, उसका कारण यही है कि उनके हृदयमें स्वधर्मका रहस्य तथा उसका गुप्त गौरव स्थान पा सके, इस प्रकारसे दृष्टान्त और युक्तिपूर्वक समझानेकी हममें कमी है। इसी-लिये आजकलका शिक्षित वर्ग जैन मार्गके तत्त्वोंको भली-भांति समझ नहीं सकता और दूसरे-दूसरे मार्गोंकी ओर गमन करता है। और इसीलिये कतिपय लोग उस उज्ज्वल विद्याका दुरुपयोग करके धर्मसे क़तई भ्रष्ट होते हुए देखे जाते हैं। इसका मुख्य कारण धर्माचार्योंकी लापरवाही हो सकती है। जैनके मुख्य नेताओंकी इस ज़बरदस्त औंघके लिये क्या कहा जाय? इनकी इस प्रगाढ़ निद्राके कारण ही जैनधर्मकी प्राचीन विभूतिका आज स्वप्न भी नहीं है। और उसके तमाम क्रिया तत्त्व आज अन्धकारमें छिपे हुए हैं।

किसी भी क्रियाका जबतक यथार्थ स्वरूप समझमें नहीं आ जाता तबतक उस ओर प्रेम जाग्रत हो ही नहीं सकता। और बिना प्रेमके—बिना श्रद्धाके उसका यथार्थ फल नहीं मिल सकता। वर्षों तक सामायिक करनेवालोंसे भी यदि सामायिकका शब्दार्थ, लक्षण, हेतु, रहस्य, साध्य आदि पूँछा जाय तो उसका उत्तर उनसे भाग्यसे ही मिलेगा। आज

कलके सुधरे हुए ज़मानेमें समाजकी ऐसी स्थितिका रहना कुछ कम खेद जनक नहीं है।

इन्हीं विचारोंकी वजहसे—सामायिकका असली स्वरूप लोग समझ जावें तथा तोतेकी सी रटन्त करानेवाली पाठशालाओंके बालक सामायिकके शब्दार्थको समझ जावें, हमने अपनी मति-अनुसार सद्गुरु तथा अनेक शास्त्रोंकी सहायतासे इस पुस्तककी योजना की है। पुस्तक दो भागोंमें विभाजित की गई है। पहले भागमें सामायिकका प्रयोजन, लक्षण, हेतु, सामर्थ्य, माहात्म्य, रहस्य, अधिकारी, विधि, साध्य आदि बातोंपर प्रकाश डाला गया है। और दूसरे भागमें मूलपाठ, संस्कृतछाया, शब्दार्थ, विवेचन आदि दिये गये हैं। अन्तमें सामायिकके समय जो उपयोगी हो सकें ऐसे वचनामृत तथा कुछ भजन भी रक्खे गये हैं।

इस संबन्धमें मुनिवरों तथा सुज्ञ पुरुषोंसे प्रार्थना है कि इसमें यदि कोई भूल रह गई हो या कुछ घटाने-बढ़ानेकी आवश्यकता प्रतीत होती हो तो कृपया वे मुझे सूचित करें। ताकि अगले संस्करणमें उसे ठीक कर दिया जाय।

* इत्यलम् *

आगरा	मुमुक्षु—
वीर सं० २४६० कार्तिक शु० प्रतिपदा	मुनि आत्मचन्द्र।

श्रीजिनेश्वराय नमः

सामायिक-स्वरूप ।

प्रथम भाग ।

मङ्गलाचरण ।

वीरः सर्वसुरासुरेन्द्रमहितो वीरं बुधाः संश्रिताः,
वीरेणाभिहतः स्वकर्मनिचयो वीराय नित्यं नमः ।
वीरात्तीर्थमिदं प्रवृत्तमतुल वीरस्य घोरं तपः,
वीरे श्रीधृतिकीर्तिकान्तिनिचयः श्रीवीर ! भद्रं दिश ॥१॥

अर्थात्—जो देव-दानवोंके राजाओंसे पूजित है, विद्वान् लोग जिसका आश्रय लेते हैं और जिसने अपने समस्त कर्म नष्ट कर दिये हैं, उस वीर परमात्माकेलिये हमारा हमेशा नमस्कार है। जिससे अतुलनीय—जिसकी कि किसीसे भी तुलना न की जा सकती हो, तीर्थ प्रचलित हुआ, जिसकी तपश्चर्या अति कठिन है और जिसके अन्दर धृति, कीर्ति, कान्ति आदि गुणों का समुदाय निवास करता है, वह श्रीवीर भगवान सबका कल्याण करे ॥१॥

(१) सामायिक किसे कहते हैं ?

त्यक्तार्त्तरौद्रध्यानस्य, त्यक्तसावद्यकर्मणः ।
मुहूर्तं समताभावं, विदुः सामायिकं व्रतम् ॥२॥

अर्थात्—आर्त-रौद्र ध्यान और समस्त पाप-कर्मोंको छोड़कर कमसे कम एक मुहूर्त तक अपनी आन्तर वृत्तिको समभावमें रखनेको 'सामायिक व्रत' कहते हैं ॥२॥

भावार्थ—समस्थिति या समभाव, यह आत्माका मूल स्वभाव है। यह जीव अनादि कालसे मायाके जालमें फँसा हुआ है। इससे वह हमेशा समस्थितिके बदले विषमस्थितिमें ही अपनी प्रवृत्ति करता रहता है। उस विभावपरिणत आत्माको आध्यात्मिक क्रियाके द्वारा समभावमें लाया जाता है। और इसकेलिये जो शुद्ध क्रिया की जाती है, उसे 'सामायिक' कहते हैं।

(२) सामायिकका प्रयोजन क्या है ?

प्रत्येक प्राणीको निराबाध सुख और परम शान्तिकी इच्छा रहती है। और इसीकेलिये प्रत्येक प्राणी भिन्न-भिन्न उपायोंसे उसकी खोज किया करता है। असहनीय दुःखोंको सहते हुए और कठिन परिश्रमको करते हुए भी जीवोंको सुख प्राप्त नहीं होता। और कभी कदाचित् थोड़ा सा सुख प्राप्त होता भी है तो वह शीघ्र नष्ट हो जाता है और फिर उस दुःखका सामना करना पड़ता है। वास्तवमें निर्दोष और उचित प्रयत्नोंके बिना किये जीवोंको निराबाध—अविच्छिन्न सुख प्राप्त हो नहीं सकता। असलमें सुखका खजाना अपने पास ही है लेकिन ज्ञानदीपकके बिना हम हमेशासे अज्ञान अन्धकारमें ही हैं। इसीलिये सुखकेलिये किये गये हमारे प्रबल प्रयत्न भी निष्फल रहते हैं। अत एव तत्त्वज्ञ पुरुषों ने अखण्ड सुखकी क्रमशः प्राप्तिकेलिये सरलसे सरल उपाय

'सामायिक व्रत' निकाला है। इसकेद्वारा चञ्चल और अव्यवस्थित मनका व्यापार शान्त हो जाता है और तब यह जीव अपूर्व आनन्दके अल्पांशका भोक्ता बनता है। बस, यही इस 'सामायिक व्रत' का प्रयोजन है।

(३) शास्त्रमें 'सामायिक' किस जगहकी क्रिया है?

सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र, इन तीन साधनों से जीवको 'मोक्ष' की प्राप्ति होती है। इनमेंसे सम्यक् चारित्र की प्राप्ति तभी होती है, जब कि जीवको सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन हों। सम्यक्चारित्रके दो भेद हैं—एक देशविरति और दूसरा सर्वविरति। देशविरति—अंश रूपसे व्रत अर्थात् अणु व्रत। और सर्वविरति—संपूर्ण रूपसे व्रत अर्थात् महाव्रत। गृहस्थाश्रमी—श्रमणोपासक श्रावक अणुव्रतको ही पाल सकते हैं। और जो गृहस्थाश्रमको छोडकर मुनि-साधु-श्रमण-अनगार हो जाते हैं, वे महापुरुष महाव्रतको पाल सकते हैं।

अणुव्रती श्रावकके व्रत बारह कहे गये हैं—पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत। महाव्रतों की अपेक्षा 'अणु' अर्थात् लघु होनेकी वजहसे ये व्रत 'अणुव्रत' कहलाते हैं। वे ये हैं—(१) स्थूल प्राणातिपातविरमण, (२) स्थूल मृषावादविरमण, (३) स्थूल अदत्तादानविरमण, (४) अब्रह्म-मैथुनविरमण, और (५) स्थूल परिग्रहविरमण।

'गुण' नाम है 'वृद्धि' का। जिनसे अणुव्रतोंकी वृद्धि होती है, उन्हें 'गुणव्रत' कहते हैं। वे तीन होते हैं—(१) दिग्व्रत (दिशाव्रत) (२) भोगोपभोगपरिमाणव्रत और (३) अनर्थदण्डविरमण व्रत।

जो धर्मशिक्षाके स्थान हों वे 'शिक्षाव्रत' कहलाते हैं। वे चार हैं—यथा—(१) सामायिक, (२) देशावकाशिक, (३) प्रोपध और (४) अतिथिसंविभाग।

इस कथनसे यह बात समझमें आ सकती है कि श्रावकके बारह व्रतोंमेंसे नौवाँ व्रत 'सामायिक' है। और इस धार्मिक व्रत के अभ्याससे पूर्वोक्त साम्य सिद्ध हो सकता है। 'उपासक सूत्र' में यह 'अधिकार' कहा गया है।

दूसरा स्थान—

'प्रतिक्रमण' अर्थात् पापोंसे पीछे हटना। यह मूल 'आवश्यक' क्रियाका एक भेद है। 'आवश्यक' उसे कहते हैं जो अवश्य करने योग्य हो। 'आवश्यक क्रिया' के छह अङ्ग (अधिकार) हैं। उनमेंसे प्रथम अङ्ग 'सामायिक' है। यह अधिकार 'आवश्यक सूत्र' में है।

इसके अतिरिक्त 'दशाश्रुत स्कन्ध सूत्र' में श्रावककेलिये प्रतिमा आदि तपस्याओंका भी विधान है। प्रतिमा (पडिमा) का अर्थ है—अमुक अमुक प्रकारका अभिग्रह करना। वे प्रतिमायें ग्यारह हैं। यथा—(१) दर्शन, (२) व्रत, (३) सामायिक, (४) प्रोषध, (५) सचित्तविरति (६) रात्रिभुक्तित्याग, (७) ब्रह्मचर्य, (८) आरम्भत्याग, (९) परिग्रहत्याग, (१०) अनुमतित्याग और (११) उद्दिष्टत्याग। इनमें तीसरी प्रतिमा 'सामायिक' है।

इस तरह शास्त्रोंमें अनेक जगहोंपर 'सामायिक' की आवश्यकता स्वीकार की गई है। इस सम्बन्ध में विशेष बातें गुरुओं से समझ लेनी चाहिये।

(४) सामायिककी सामर्थ्य।

'सामायिक' मनको स्थिर करनेकेलिये एक अद्वितीय क्रिया है, आत्मिक अतुल शान्ति प्राप्त करनेका एक संकल्प है; परमधाम प्राप्त करनेकेलिये एक सरल और सुन्दर मार्ग है; पाप रूप कूड़े को भस्म करनेकेलिये एक अलौकिक यन्त्र है; संसारके त्रिविध

तापको दूर करनेकेलिये एक चामत्कारिक वूटी है, असाध्य रोगों को नष्ट करनेकेलिये एक आध्यात्मिक रसायन है, अखण्डानन्द पानेकेलिये एक गुप्त मन्त्र है, दु:ख समुद्रसे पार होनेकेलिये एक मज़बूत नौका है और अनेक कर्म मलोंसे मलीमस आत्माको परमात्मा बनानेकी सामर्थ्य इस यौगिक क्रियामे है।

(५) सामायिकसे होनेवाले लाभ।

जिस क्रियाके करनेसे आत्मामे जड पकडनेवाले दुर्गुण क्रमसे नष्ट होकर सद्गुणोंका समूह बढता जाय और हृदय परम शान्तिका अनुभव करे तथा जो सुख किसी भी पौद्गलिक प्रिय वस्तुसे प्राप्त न हो सका हो ऐसे सुखका साक्षात् अनुभव करा दे, ऐसे अपूर्व लाभ से और अधिक लाभ क्या होता है ? फिर भी साधारण मनुष्योंको समझानेकेलिये शास्त्रकारोंने एक जगह लिखा है—

दिवसे दिवसे लक्खं, देइ सुवन्नस्स खंडियं एगो।
एगो पुण समाइयं, करेइ न पहुप्पए तस्स ॥३॥

अर्थात्—एक आदमी प्रतिदिन लाखो सुवर्ण मुद्राओंका दान करे और एक आदमी 'सामायिक' करे तो लाखों सुवर्ण मुद्राओंका दान करनेवाला व्यक्ति सामायिक करनेवाले व्यक्ति की बराबरी नहीं कर सकता ॥३॥

इसके अलावा 'पुण्यकुलक' नामक ग्रन्थमे कहा गया है कि—

बाणवइ कोडीओ लक्खा, गुणसट्ठी सहस्स पणविस।
नवसय पणविस जुया, सतिहाअडभाग पलियस्स ॥४॥

अर्थात्—शुद्ध सामायिक करनेवाला व्यक्ति ९२५९२५९२५$\frac{3}{8}$ पल्योपम वाली देवगतिकी आयु बाँधनेका फल प्राप्त करता है।॥४॥

और भी कहा है—

सामाइयं कुणन्तो, समभावं सावओअघडियदुर्गं ।
आउं सुरेसुय बधइ, इति अ मित्ताइं पलियाइं ॥५॥

अर्थात्—दो घड़ी समभावपूर्वक सामायिक करनेवाला श्रावक देवगतिकी पल्योपम जैसी दीर्घायुष्यका बन्ध करता है॥५॥

अन्य तपश्चर्या करनेवालेकी अपेक्षा समतापूर्वक सामायिक करनेवाले व्यक्तिको शास्त्रकारोंने श्रेष्ठ बतलाया है। देखो—

तिव्वतवं तवमाणो, जं न विनिटठइ जम्मकोडीहिं ।
त समभाविअ चित्तो, खवेइ कम्मं खणद्धेण ॥६॥

अर्थात्—करोड़ों जन्म पर्यन्त तीव्र तप तपनेवाला व्यक्ति जिन कर्मों को नहीं खिपा सकता, उन कर्मोंको समभावपूर्वक सामायिक करनेवाला जीव आधे क्षणमें खिपा देता है॥६॥ सामायिक की यह उत्कृष्ट महिमा है। और भी कहा है—

जे के वि गया मोक्खं, जे वि य गच्छंति जे गमिस्संति ।
ते सव्वे सामाइअ, पभावेणं मुणेयव्वं ॥७॥

अर्थात्—जो कोई मोक्ष गया जाता है और जायगा वह सब सामायिकके माहात्म्य से ही ॥७॥ इसके अलावा और भी कहा है—

किं तिव्वेण तवेण, किं च जवेणं किं चरित्तेणं ।
समयाइ विण्णमुक्खो न हु हुओ कह वि न हु होइ ॥८॥

अर्थात्—चाहे जैसा कोई तीव्र तप तपे, जाप जपे, या द्रव्य चरित्र धारण करे परन्तु समता (समभाव) के बिना किसीको मोक्ष हुई नहीं होती नहीं और होगी भी नहीं ॥८॥

इस तरह सामायिकका यह उत्कृष्ट माहात्म्य है । वास्तवमें सामायिक तो मोक्षका अङ्ग ही है । ऐसे सामायिकका उदय आना महादुर्लभ है । देव लोग भी यह चाहते हैं कि यदि एक मुहूर्त भी हम सामायिक कर सकते तो हमारा देवपना सार्थक हो जाता इसलिये श्रावकोंको हमेशा शुद्धमनसे 'सामायिक' करना चाहिये ।

(६) सामायिकका फ़ायदा नक़द है या उधार ?

सामायिक करनेवालोंका अधिकांश भाग यह समझता है कि सामायिक करनेका लाभ आगामी भवमें मिलता है । इस-लिये इतने लम्बे वायदेका व्यापार अपनेको पुसियाता नहीं है । कौन जाने परभवमें उसका फल मिलेगा या नहीं ? इसलिये अपने धधेका नक़द फ़ायदा छोड़कर उधारवाले धंधेमें लगने को हमारी तबियत नहीं लगती । इसलिये इस क्रियाको हम प्रेम रहित एवं रूखे मनसे करते हैं और करते हैं सिर्फ व्यवहारके वशवर्ती होकर । सामायिकके उत्तम फलको न समझनेवाला बहु भाग उस क्रियासे दूर ही रहता है । और उसके वास्तविक अर्थको समझनेवाले नेता लोग भी निरपेक्ष रहते हैं । इसलिये सामायिकके स्वादिष्ट फलसे आम लोग वञ्चित रहते हैं ।

सामायिकके करनेसे नक़द—प्रत्यक्ष लाभ होता हुआ दिखलाई नहीं पडता, यह कहनेवालोंका सिद्धान्त सरसरी तौरसे देखने पर उचित मालूम पड़ता है । परन्तु वास्तवमें उनका यह विचार भूलसे खाली नहीं है । उसका मैं अगाड़ी स्पष्टीकरण करता हूँ, जिससे कि स्पष्ट समझमें आ जायगा—

हर एक व्यक्तिको साधन और विचारपूर्वक किये गये पुरुषार्थका फल उसके प्रमाणके अनुसार उसको अवश्य मिलता है । किसी भी पुरुषार्थ—प्रयत्नका फल थोड़ा मिला या बिल्कुल नहीं मिला या उल्टा नुकसान हुआ, इसका कारण साधन या

पुरुषार्थकी कमी है या किसी विचारकी विपरीतता है। मनुष्य जिस समय जमीनमें बीज बोता है, उसी समय उसको उसका फल नहीं मिल जाया करता है। हाँ! जमीन कि जिसमें बीज बोया जाता है, कुछ दिनों बाद उसमें अकुरा निकलता है, और फिर बादमें उसकी पूरी पूरी रखवाली की जाती है। तब कहीं कुछ समय बाद अपने साधन और पुरुषार्थके प्रमाणानुसार उससे फल मिलता है। मनुष्य अपने अज्ञानवश कमोद (एक बढ़िया चावल) के छिलके तो बोवे और उनसे कमोदके पानेकी आशा रक्खे, यह बिलकुल व्यर्थ है। उत्तरी ध्रुवकी यात्रा करनेवाला व्यक्ति यदि उत्तरकी ओर ही अपनी गति करेगा, तभी वसे वह प्राप्त हो सकता है, अन्यथा नहीं। इसी तरह बहुतसे भाइयोंको सामायिककी क्रिया अहर्निश करते रहनेपर भी उसका उन्हें कुछ भी प्रतिफल दिखलाई नहीं पड़ता है, इसका कारण यही है कि *जिस तरीकेसे पाठ प्राप्त होना चाहिये उस तरीकेसे वे उसे नहीं* करते। उस तरहसे विरले ही करते हैं। बाकीके अनेक लोग तो अन्धपरम्पराके अनुसार गाड़ा-गाड़ी चलाते हैं। इस तरहसे उन्हें उसका फल कैसे मिले? प्रथम तो उनमें श्रद्धारूप पाया ही नहीं है,—प्रेम या रुचिका पता तक नहीं है। फिर तन, मन, वस्त्र, स्थान या उच्चारणकी शुद्धि नहीं है। इसके अलावा सबसे भारी बात एक यह है कि जिस हृदय क्षेत्रसे किसी फलकी प्राप्ति हो सकती है वह हृदय क्षेत्र ही जब बाहरीकी वासनाओंसे व्याप्त है, ऐसी हालतमें कोई प्रत्यक्ष फल दिखलाई न दे, यह स्वाभाविक ही है। अतः यदि सामायिक शास्त्र विधिके अनुसार शुद्धता-पूर्वक किया जाय तो वह इसी भवमें अपना अलभ्य लाभ अवश्य प्रदान करे। यह निस्सन्देह है।

(७) 'सामायिक' शब्दका अर्थ ।

'सामायिक' शब्दके अनेक गम्भीर आशय-युक्त अर्थ होते हैं —(१) "समस्य = मध्यस्थस्य, आय = लाभ" अर्थात् समस्थिति या समभावका जिससे लाभ हो, उसे 'सामायिक' कहते हैं। (२) "समानाम् = मोक्षसाधनं प्रति समाना सदृशनासामर्थ्यांना सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्राणामायः = लाभ" अर्थात्—मोक्ष साधनके लिये एक सदृश सामर्थ्यवाले सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्रका जिससे लाभ हो, उसे 'सामायिक' कहते हैं। (३) "समस्य = सर्व जीवसहमैत्रीभावलक्षणस्याय = लाभः" अर्थात्—संपूर्ण जीवोंके साथ मैत्रीभाव करनेका जिससे लाभ हो, उसे 'सामायिक' कहते हैं। (४) "समस्य = सावद्ययोगपरिहारनिरवद्ययोगानुष्ठानरूपजीव-परिणामस्यायः = लाभ" अर्थात्—सावद्य योग—पाप-सहित योग का त्याग और निरवद्य योगका अनुष्ठान करने रूप जीवके परिणामोंका जिससे लाभ हो, उसे 'सामायिक' कहते हैं।

(८) सामायिक किसको करना चाहिये ?

सवणे नाणे विन्नाणे, पच्चक्खाणे य संजमे ।
अणन्हय तवे चेव, वेदाणे अकिरिया सिद्धि ॥१॥

इस श्लोकमें आत्माकी सिद्धि करनेका क्रम बतलाया गया है। इसका भावार्थ यह है कि आत्मसिद्धिका अभिलाषी मनुष्य पहले तो गीतार्थी, तत्त्वज्ञानी और बहुश्रुत महात्माओंके वचनामृतका श्रवण करे। ताकि सम्यक्ज्ञान प्रगट हो और विशेष अभ्याससे विज्ञान उत्पन्न हो। इसके बाद वह त्यागने योग्य पदार्थोंका त्याग (प्रत्याख्यान) और स्वीकार करने योग्य पदार्थोंको स्वीकार करे त्यागने योग्य पदार्थोंका त्याग करनेसे जीवके संयम होता है। संयमसे

आनेवाले कर्म आनस रुकते हैं। फिर तपश्चर्याकेद्वारा पूर्वोपार्जित पापोंको नष्ट करे। जिस समय पूर्वोपार्जित कर्म तपश्चर्याके द्वारा नष्ट हो जायेंगे उस समय यह जीव कर्मरहित होकर अक्रिय हो जायगा और सिद्धि पदको प्राप्त कर लेगा। इसलिये सामायिक करनेवालों को चाहिये कि पहले वे उसका स्वरूप सद्गुरुओंसे सुन ले। यदि उन्होंने शास्त्रोंकेद्वारा स्वयं ही उसका स्वरूप समझ लिया हो तब भी यह आवश्यक है कि वे सद्गुरुओंसे उसको प्रमाणित कर लेवें। इस तरह उसकी विधिको यथावत् ध्यान करके पीछे सामायिक करना शुरूकरना चाहिये। इस व्रतमें इन्द्रियोंके निग्रह करनेकी तथा चैतन्य जाग्रत रखनेकी शक्ति सामायिक करनेवालेमें होनी चाहिये। व्रत लेनेके बाद—सामायिक प्रारम्भ कर देनेके बाद अपना कोई बालक या आदमी उसमें किसी प्रकारका विक्षेप न डाले। अथवा किसी कार्यको अपूर्ण छोड़कर आया हो और उस कार्यकी विह्वलता मनमें रही हो तो ऐसी परिस्थितिमें भी सामायिक न करना चाहिये। सामायिक करनेवालेको कोमत की कोई चीज़ उस समय अपने पास न रखनी चाहिये। उसी तरह एकान्तमें भी कोई चीज न रखनी चाहिये जिससे कि मन उस ओर लगा रहे—उधरको खिंचता रहे। जैसे कि सोनेके बटन, घड़ी, सोने-चाँदीकी मूठकी छड़ी, बढ़िया छतरी, बूट, कपड़ा इत्यादि। इत्यादि प्रकारका विवेक सामायिक के समय मनुष्यको ध्यानमें रखना चाहिये। स्त्रियोंको भी जो कि सगर्भा (पूर्णमासा) हों, अथवा छपमी बालक जिनके पास हों अथवा अपवित्र (रजस्वला) होनेका जिन्हें भय हो, सामायिक न करना चाहिये।

कुर्सेवार आदमीको वायदा करके बाहिर बैठा कर, गाँवमें
[illegible]

किसीको किसी प्रकारका नुक़सान पहुँचा कर भाग आकर सामायिक न करना चाहिये। क्योंकि ऐसे अवसरोंपर सामायिक भलीभाँति नहीं हो सकता। इसलिए इन सब प्रसङ्गोंको छोड कर चित्त को एकाग्र करके विवेक पूर्वक मनुष्यको सामायिक करना चाहिये कि जिससे उसका सच्च फल उन्हें मिल सके।

(६) सामायिकके नाम।

सामाइयं समइयं, सम्मवाओ समास संखेवो।
आणवज्जं य परिणा, पच्चक्खाणे य ते अट्ठा ॥१०॥

अर्थात्—(१) सामायिक, (२) समयिक, (३) समवाद, (४) समास, (५) संक्षेप, (६) अनवद्य, (७) परिज्ञा और (८) प्रत्याख्यान, ये आठ नाम सामायिकके हैं।

इनका भावार्थ नीचे लिखे अनुसार है—

(१) सामायिक—समपनेका भाव—समता—समानपनेका लाभ।

(२) समयिक—स + मया (दया) अर्थात् दयासहित—संपूर्ण जीवों पर दया भाव रखना।

(३) समवाद—यथावस्थित—राग-द्वेष रहित मध्यस्थपनेसे वचन बोलना।

(४) समास—थोड़ेसे अक्षरोंमें ही तत्त्व—रहस्यको समझ लेना।

(५) संक्षेप—स्वल्प मन्त्राक्षरोंसे कर्मोंका नाश करनेवाले परमात्माके स्वरूपमें लीन हो जाना—समाधि स्वरूप का साधना।

(६) अनवद्य—अवद्य अर्थात् पाप। उससे रहित, अर्थात् जो सर्वथा हितावह ही हो।

(७) परिज्ञा—परि अर्थात् सब प्रकार से, ज्ञा अर्थात् ज्ञान। मतलब यह है कि सात नय, चार निक्षेप, चार प्रमाण, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, निश्चय, व्यवहार, विशेष, अविशेष आदि अनेक प्रकारोंको ध्यानमें रख कर वस्तु स्वरूपको पहिचानना-जानना।

(८) प्रत्याख्यान—त्यागने योग्य वस्तुओंका विचार-पूर्वक त्याग करना।

इस तरह ये आठ नाम सामायिकके शास्त्रमें बतलाये गये हैं। इनके अलावा सामायिकके चार नाम शास्त्रमें और भी बत लाये गये हैं, जैसे कि—

(१) श्रुति सामायिक—समभावको पैदा करनेवाले शास्त्रोंका नियम लेकर एक स्थानमें अभ्यास करना।

(२) सम्यक्त्व सामायिक—शुद्ध सम्यक्त्व—समस्थिति अथवा सच्चे देव, सच्चे गुरु और सच्चे धर्मका स्वरूप जानकर मिथ्यात्वका त्यागना और सत्यका पालन करना।

(३) देशविरति सामायिक—अन्तर्मुहूर्तसे लेकर परिमित काल देश पर्यन्त श्रावकका सामायिक करना।

(४) सर्वविरति सामायिक—आगाररहित, संपूर्ण प्रकार का और यावज्जीवन साधुओंका महाव्रत पालना।

इसके अलावा सामायिकके और भी दो भेद हैं—(१) भाव सामायिक और (२) द्रव्य सामायिक।

(१०) भाव सामायिक।

बाह्य दृष्टिका त्याग कर अन्तर्दृष्टिद्वारा आत्म-निरीक्षणमें मनको जोडना, विषम-भावका त्याग कर समभावमें स्थिर होना, पौद्गलिक पदार्थोंका यथार्थ स्वरूप समझ कर उससे ममत्व हटा कर आत्म-स्वरूपमें रमण करना 'भाव सामायिक' है। इस तरह के समभावका परिपूर्ण पालन तो तेरहवें गुणस्थानवर्ती केवल-ज्ञानी जीवन्मुक्त पुरुष ही कर सकता है। जिसके कि यथाख्यात चारित्र हो जाता है और परम शुक्ल लेश्या हो जाती है। लेकिन उससे नीचे दर्जेकी आत्माएँ भी थोड़े अंशमें भाव सामायिक कर सकती हैं। भाव सामायिकका जो साधन है, उसे 'द्रव्य सामायिक' कहते हैं। अर्थात् कदाचित् सामायिकमें उपयोग स्थिर न रहे तो भी अभ्यास—आदत डालनेकेलिये हमेशा सामायिक करना और क्रम-क्रमसे शिक्षापूर्वक शुद्ध होनेकेलिये प्रयत्न करते रहना। यह पद्धति भी प्रशसनीय है।

अनेक प्रमादी और अज्ञ लोग सामायिक न करनेमें यह युक्ति दिया करते हैं कि शुद्ध सामायिक हमसे बनता नहीं है। इसलिये हम सामायिक नहीं करते हैं। पर ऐसी बातें बनानेवाले लोग यह नहीं जानते कि व्यवहारसे निश्चयमें आया जाता है। द्रव्य भावका कारण है। अशुद्ध करने वाले किसी दिन शुद्ध करनेके योग्य हो जायँगे। लेकिन बिलकुल ही नहीं करनेवाले योंके यों ही—कोरे रह जायँगे।

(११) द्रव्य सामायिक।

शास्त्रमें बतलाई हुई प्रत्येक विधिका पालन करना द्रव्य सामायिक है। शास्त्रोक्त स्थानशुद्धि यह है कि सामायिककेलिये स्थान ऐसा होना चाहिये कि जहाँपर किसी प्रकारकी अशुचि अप-वित्रता न हो, जहाँपर किसी प्रकारका शोर-गुल न हो और

जहाँपर मनको विक्षोभ पहुँचानेवाले कोई भी कारण न हों। इसी तरह सामायिकके लिये शरीर तथा वस्त्रकी भी शुद्धि विवेक पूर्वक रखना चाहिये। सामायिकमें शरीरको आभूषणोंसे अलंकृत करनेकी कोई जरूरत नहीं है। उसी तरह बहुमूल्य वस्त्रों की भी उसमें आवश्यकता नहीं है। उस समय सिर्फ स्वच्छ शरीर हो, प्रशान्त-निगृहीत इन्द्रियाँ हों, अमृतमय दृष्टि हो, अचपल वाग हों और स्वच्छ, अखण्ड (बिना सिला) और बिना किसी रँग का रँगा हुआ (श्वेत) एक वस्त्र पहरनेका और एक ओढ़ने का होना चाहिये।

उपकरणोंमेंसे—हो सके तो ऊनका एक आसन, मुँहपत्ति, गुच्छक, माला और सामायिकमें सहायक हो सके ऐसी एक पुस्तक होनी चाहिये। ये चीजें शुद्ध हों और मनको अप्रसन्न करने वाली न हों।

इस तरह प्रत्येक विधिको यथावत् ग्रहण करके सामायिक प्रारम्भ करना चाहिये। सामायिकमें यदि उपयोग न लगे तो उसे 'द्रव्य सामायिक' समझना चाहिये। और यदि उपयोग—अध्यवसाय सामायिक ग्रन्थ में ही रहे और अन्य द्रव्यमें न जाय तो उसे 'भाव सामायिक' समझना चाहिये।

नोट—प्राचीन कालमें सामायिककी क्रिया प्रत्येक श्रावक श्राविका अपने-अपने घरकी पौषधशालामें ही करते थे। इसलिये उस समय उपाश्रयोंकी आवश्यकता नहीं थी, परन्तु कालके प्रभाव से जमाना बदल गया है। इसलिये आज कल अपने ही घरमें पौषधशालाका प्रबन्ध किसी विरलेके ही भाग्यसे होता है। अत एव आज कल जिस नगरमें श्रावकोंका समूह है वहाँपर उपाश्रयोंका प्रबन्ध होता है। जिनके घरोंमें सामायिकका यथोचित प्रबन्ध न हो उनके लिये 'उपाश्रय' ही एक उचित जगह है।

पुरुषोंलिए जिस प्रकार सफेद कपड़े रखनेकी आज्ञा है, उसी प्रकार स्त्रियोंकेलिये भी आवश्यक न समझना चाहिये। वस्त्रका सिद्धान्त व्यावहारिक है इसलिये जिस देशमें स्त्रियोंको जिस प्रकारके कपड़े पहरनेकी चाल हो, उसी प्रकारके कपड़े सिर्फ़ अङ्गकी मर्यादा रखनेकेलिये पहनने ओढ़ने चाहिये, शोभाके लिये नहीं। उसी प्रकार अलंकार भी, जो शरीरसे उतारे न जा सके, नहीं उतारने चाहिये। हाँ! सजनेकेलिये कोई आभूषण वे शरीरपर न रक्खें। मुँहपत्ति गन्दी और खराब न हो। कपड़े अपनी परिस्थितिके अनुकूल पहनने चाहिये। हाँ! वे वीभत्स, गन्दे और बहुत बारीक़ न हो।

हरएक बातका यह स्पष्टीकरण इसलिये किया गया है कि हरएक क्रिया विधिपूर्वक करनेसे ही उत्तम फल मिलता है। हर एक औषधि तभी फलदायक होती है, जब कि यथोचित अनुपान के साथ वह सेवन की जाय और उसका परहेज पाला जाय। यही बात धार्मिक क्रियाओंके सम्बन्धमें भी समझ लेनी चाहिये। इसीलिये अपने परमोपकारी आचार्योंने हरएक क्रिया विधि-सहित बतलाई है।

(१२) सामायिकके लक्षण।

समता सर्वभूतेषु, संयमः शुभभावना।
आर्त्तरौद्रपरित्यागस्तद्धि सामायिक व्रतम् ॥११॥

अर्थात्—(१) सब जीवोंपर समभाव रखना, (२) सयम—पाँचो इन्द्रियोंके विषय-विकारको भली भाँति, यम-नियममें—वशमें रखना, (३) अन्तरङ्गमें उत्तम प्रकारकी भावना रखना, (४) और आर्त-रौद्र इन दो अशुभ ध्यानोंको छोड कर धर्म-शुल्क, इन दो शुभ ध्यानोंका करना। ये चार सामायिकके लक्षण हैं।

लक्षणके बिना लक्ष्य यथार्थ रूपसे समझा नहीं जा सकता, अतः लक्ष्यको समझनेकेलिये लक्षणोंका विवेचनपूर्वक विचारना, समझना, मनन करना अधिक आवश्यक है।

(११) लक्षणोंका विशेष स्पष्टीकरण।

सामायिकका प्रथम लक्षण जो समता है, उसका यथार्थ स्वरूप कहा नहीं जा सकता। आमका, खीरका या खाँडका स्वाद कैसा है ? या किसके सदृश है ? यह बात मुखसे कही नहीं जा सकती, सिर्फ चाखनेसे ही मालूम हो सकता है।

समताका अर्थ है—मनकी स्थितिस्थापकता, राग-द्वेषमें न पड़ना, समभाव, एकीभाव, सुख-दुःखके समय मनको एकसा रखना।

समस्थिति आत्माका स्वभाव है। और विषमस्थिति कर्मका स्वभाव। इस समय कर्मके निमित्तसे विषम भावों की ओर गमन करनेकी आदत आत्माको पड़ी हुई है, इसको मिटाकर स्वभाव से परिणम कराना सामायिकका प्रथम लक्षण है। सामायिक करने वाले व्यक्तिके यदि समतादि लक्षण व्यक्त न हुए हों तो उसके द्रव्य सामायिक ही समझना चाहिये। जिसका कि फल नहींके बराबर ही मिलता है। कहा भी है—

> जो समो सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु य।
> तस्स सामाइयं होइ, इमं केवलिभासियं ॥१२॥

अर्थात्—त्रस और स्थावर जीवोंपर जो समभाव रखना है, वह शुद्ध सामायिक है। यह केवली भगवान्ने कहा है ॥१२॥

समभाव, मनकी स्थितिस्थापकता, एकाग्रता या स्थिरता है। इसको बनाये रखनेकेलिये प्रत्येक व्यक्ति, अवनतिके साधन रूप मन वचन, कायके योगोंकी विशुद्धि अवश्य होनी चाहिये।

तीनों योगोंकी शुद्धिसहित यदि सामायिक किया जाय तो समता स्थिर रह सकती है। तीनों योगोंमें मन मुख्य है। शास्त्रोंमें अनेक जगहोंपर इसको मुख्य गिना गया है। मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति, मनोयोग, वचनयोग और काययोग, मानसिक, वाचिक और कायिक। इस प्रकारका जो क्रम शास्त्रकारोंने रक्खा है, उसपर विचार करनेसे मालूम होता है कि पहिले मनः—शुद्धि होनी चाहिये, तभी वचनशुद्धि और कायशुद्धि हो सकती है। अनुक्रमको छोड कर अण्ट-सण्ट चलनेसे उसका फल भी अण्ट-सण्ट होता है। इसलिए सबसे पहले मनःशुद्धि करना चाहिये।

(१४) मनःशुद्धि।

पवित्र क्रियारूपी क्यारीमें ज्ञानरूपी जलके सींचनेसे उत्पन्न होनेवाले समभावरूपी कल्पवृक्षको शुद्ध भूमिकी आवश्यकता होती है, वह भूमि मन है। अशुद्ध और चञ्चल मन पौद्गलिक विलासोंकी ओर आकृष्ट होता हुआ कर्मका बन्ध करता है। इसीलिये मनको ही बन्ध और मोक्षका कारण माना है। अतः सबसे पहले मनकी चञ्चलताको नष्ट करनेका प्रयत्न करना चाहिये। मनके स्थिर होनेसे आत्मिक आनन्दका अनुभव होता है। और जिस समय अपने ही पासमें रहनेवाला आत्मिक सद्गुणरूपी सूर्य प्रकट होता है, उस समय राग, द्वेष, भय, शोक, मोह, माया आदि अन्धकार अपने आप दूर हो जाते हैं। रागादि मनोविकारोंके शान्त हो जानेसे मनरूपी भूमि शुद्ध हो जाती है।

कल्पना शक्ति, तर्कणा शक्ति, अनुमान शक्ति, स्मरण शक्ति, निर्णय शक्ति, रुचि और धारणा जैसी अनेक शक्तियाँ मनमें ही रहती हैं। इन शक्तियोंका दुरुपयोग करनेसे आत्मा छली जाती है और दुर्गतिमें जाकर पड़ती है। इन शक्तियोंका सदुपयोग करनेसे आत्माका उद्धार होता है। क्योंकि पाँचों इन्द्रियाँ और

शरीरके समस्त अवयवोंपर मनका प्रभुत्व है—सत्ता है। मन की शक्तिको विशेष विस्तार पूर्वक समझनेकेलिये अन्य शास्त्रकारोंने इसी मनको सूक्ष्म मन और स्थूल मन, अप्रकट मन और प्रकट मन, बाह्य मन और आभ्यन्तर मन इत्यादि नामोंसे विभाजित किया है। और उनसे उत्पन्न होनेवाले कार्योंको, उनकी शक्तियोंको और उनके निग्रह करनेसे होनेवाले फायदोंको भी पृथक् पृथक् बतलाया है। मनका मुख्य कार्यालय तो मस्तिष्क है। लेकिन उस कार्यालयके आधीन काम करनेवाले सारे शरीर में छोटे-छोटे अनेक कार्यालय और भी हैं। उसकी सत्ता शरीरके प्रत्येक परमाणुपर है। यह कहना अनुचित न होगा कि कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ तथा इनका कोई भी विभाग प्रधान कार्यालयकी आज्ञाके बिना अपने आप कुछ भी काम नहीं कर सकता। इस तरहसे मनका निग्रह करना मानों सारे शरीरका ही नियन्त्रणमें रखना है। और इसीलिये नाड़ी द्वारा प्रवेश करने वाले पाँच तत्त्व भी अपना नियमानुकूल काम करते हैं। फिर क्रम-क्रमसे शरीरके अन्दर विद्यमान और प्रवेश करनेवाले पाँच तत्त्वोंको समतोलसे रक्खा जा सकता है। और समाधि अवस्था थोड़ेसे ही प्रयत्नसे प्राप्त की जा सकती है।

सूर्यकी हजारों किरणें पृथ्वीपर पृथक् पृथक् पड़नेसे उनकी गर्मी मामूली होती है। यदि उसकी कुछ किरणें आतशीय काँच के द्वारा इकट्ठा करके किसी पदार्थपर डाली जायें तो वह पदार्थ जल जायगा। इसी तरह मन रूपी अनन्त शक्तिशाली सूर्य को अनेक कार्य-संकल्परूपी प्रदेशपर हजारों किरणरूपी विचारों द्वारा बखेरा जाय तो उसकी शक्ति सामान्यसी प्रतीत होती है। यदि कोई योगरूपी यन्त्र द्वारा मनके प्रत्येक व्यापारको रोककर उसकी विचाररूपी किरणोंको इकट्ठा करके किसी पदार्थपर लगा दे तो उस उसमें अपार शक्तिका अनुभव होगा।

स्तम्भिनी, आकाशगामिनी, मारणी, मोहनी, उच्चाटनी, वशीकरणी, रोगनाशिनी, अदृश्या इत्यादि अनेक सिद्धियाँ और चमत्कार मनके निग्रहसे ही पैदा होते हैं। आजकलकी हिप्नोटिज्म और मेस्मरेज्मके प्रयोगसे दर्द मिटाया जाता है, परोक्ष की बातें जान ली जाती हैं और दूसरे मनुष्यको उसपर प्रभाव डालकर वशमें कर लिया जाता है। यह सब मनोनिग्रहका ही प्रभाव है।

सामायिकका उद्देश्य मनका निग्रह करके किसी सिद्धि या चमत्कारकी ओर ले जानेका नहीं है। बल्कि उसका उद्देश्य, मानसिक बलको बढाने, आत्मिक दोषोंको हटाने, आत्मिक सुखको प्राप्त करने एवं परमात्माके साथ संसर्ग करनेमें लगानेका है। इसलिये मनका साधन करनेवाली क्रिया जो सामायिक है उसमें प्रवेश करनेके पहले मनको शास्त्रोक्त पद्धतिसे शुद्ध कर लेना चाहिये।

'उपदेशप्रसाद' नामक ग्रन्थमें कहा गया है कि—

मनःशुद्धिमविभ्राणा, ये तपस्यन्ति मुक्तये।
हित्वा नावं भुजाभ्यां ते, तितीर्षन्ति महार्णवम् ॥१३॥
तदवश्यं मनःशुद्धिः, कर्तव्या सिद्धिमिच्छता।
स्वल्पारम्भेऽपि शुद्धेन, मनसा मोक्षमाप्नुते ॥१४॥

अर्थात्—मनको शुद्ध किये विना जो जीव केवल तपश्चर्या द्वारा ही मुक्ति पाना चाहते हैं, वे जहाजको छोड़कर अपनी भुजाओं से समुद्रको पार करना चाहते हैं॥ १३ ॥

इसलिये मोक्षाभिलाषी मनुष्यको पहले मनःशुद्धि अवश्य कर लेना चाहिये। यदि मन शुद्ध हो तो अन्य उपाय थोड़े भी किये जायँ तो जीव मोक्ष सरलतासे प्राप्त कर सकता है॥ १४॥

वचन और शरीर मनके आधीन हैं। मन यदि शुद्ध हो शान्त और स्थिर हो जाय तो वचन और शरीर थोड़ेसे ही प्रयत्नसे शुद्ध हो सकते हैं।

(१५) वचनशुद्धि।

मन तो गुप्त-परोक्ष है। उसकी पहिचान इन्द्रियों, वचन और शारीरिक व्यापारसे हो सकती है। सामायिकमें जिस तरह मन को शुद्ध रखना चाहिये, उसी तरह सामायिकके समय तक अगर हो सके तो वचनको गुप्त ही रखना चाहिये। यदि इतना न बन सके तो कम से कम वचनसमिति तो अवश्य पालन करना चाहिये और अपनी स्थितिका विचार करके निरवद्य और तुले हुए (सम्यक्त्वयुक्त) वचन ही बोलना चाहिये। किसी भी प्रकारके सांसारिक कार्यका आदेश या उपदेश प्रत्यक्ष या परोक्ष रूपसे न देना चाहिये। यह बात खास तौरसे याद रखना चाहिये। इतना ख्याल रखते हुए भी जो वचन बोला जाय वह तथ्य, पथ्य, प्रिय, मधुर, कोमल और हितावह ही होना चाहिये। मायावी, कपटयुक्त, सत्यासत्य-मिश्रित वचन न बोलना चाहिये। किसीकी खुशामदमें आकर असत्य या विपरीत वचन भी न बोलना चाहिये। जहाँ तक हो सके वहाँ तक सर्वथा मौनसे ही रहना चाहिये। यदि बोलना भी पड़े तो विवेकसहित, सत्य और प्रिय बोलना चाहिये। कर्कश कठोर और दूसरेके कार्यमें विघ्न डालने वाले सावद्य वचन कभी न बोलने चाहिये। बोलना भी पड़े तो आवश्यकतासे अधिक न बोलना चाहिये। और इस बातको खास ध्यानमें रखना चाहिये कि मेरे बोलनेसे भविष्यमें किसीको किसी प्रकारका नुकसान न हो।

(१६) कायशुद्धि।

शरीर और उनके योग्य स्थानमें रही हुई इन्द्रियोंकेद्वारा ही हम किसी विचारको आचारमें परिणत कर सकते हैं। शास्त्रोंमें

आचार-शुद्धिकेलिये भारी उपदेश दिया गया है। क्योंकि वाह्य आचरणसे अन्तरङ्गकी शुद्धिका स्मरण बना रहता है। और औरोंको भी 'यह मनुष्य व्रती है' यह जाननेका अवसर मिलता है। शारीरिक शुद्धिके साथ वस्त्रों, उपकरणों एवं स्थानकी शुद्धि आवश्यक है। क्योंकि शरीरके साथ इनका निकट सम्बन्ध है। गृहस्थी मनुष्यकेलिये अन्तरङ्गकी शुद्धिका आधार वाह्य शुद्धि है। इस बातको ध्यानमें रखते हुए शास्त्रोक्त क्रियाका यथा-विधि पालन करना चाहिये।

(१७) मनके दश दोष।

अविवेक जस्सकित्ती, लाभत्थी गव्य भयि नियाणत्थी।
संसय रोस अविणउ, अवहुमाण ए दोसा भाणियव्वा ॥१५॥

अर्थात्—(१) अविवेक दोष, (२) यशोवाञ्छा दोष, (३) लाभवाञ्छा दोष, (४) गर्व दोष, (५) भय दोष, (६) निदान दोष, (७) संशय दोष, (८) रोष (कषाय) दोष, (९) अविनय दोष और (१०) अवहुमान दोष, ये दश दोष मनके हैं। सामायिक करनेवाले व्यक्तिको इन्हें छोड़ना चाहिये।

(१८) वचनके दश दोष।

कुवयण सहसाकारे, सछंद संखेव कलहं च।
विगहं वि हासो सुद्धं, निरपेखो मुणमुणदोसा दस ॥१६॥

अर्थात्—(१) कुवचन दोष, (२) सहसाकार दोष, (३) स्वच्छन्द दोष, (४) सक्षेप दोष, (५) कलह दोष, (६) विकथा दोष, (७) हास्य दोष, (८) अशुद्ध दोष, (९) निरपेक्ष दोष और (१०) मुणमुण दोष, ये दश दोष वचनके हैं। सामायिक करनेवाले व्यक्तिको इन्हें छोड़ना चाहिये।

(१९) शरीरके बारह दोष।

(१) अयोग्य आसनपर बैठना, (२) भींतसे पीठ लगाकर बैठना, (३) आसनको डिगमिगाना, (४) पाप प्रसंगको न त्यागना (५) दृष्टिको चपल करना, (६) अङ्गपरसे मैल उतारना, (७) आलस्य रखना, (८) हँसी-मजाक करना, (९) अङ्गके जोड़ोंको फटकारना, (१०) अँगुलीकी आवाज करना, (११) निद्रा लेना और (१२) गलेको हाथ लगाते रहना।

दश मनके, दश वचनके और बारह तनके, इस तरह कुल बत्तीस दोषोंको छोड़नेके अलावा सामायिक करनेवाले मनुष्यको उसके पाँच अतीचार भी टालना चाहिये—

(२०) पाँच अतीचार।

सामायिक नामक शिक्षाव्रतके पाँच अतीचार हैं। ये जानने योग्य हैं, पालने योग्य नहीं। क्योंकि अतीचारसे व्रतका एकदेश भङ्ग होता है, सर्वांश नहीं। जैसे कि बोये हुए धान्यकी फसल प्रतिकूल हवासे जैसी चाहिये वैसी नहीं फलती। कुछ कम फलती है। वैसे ही अतीचाररूपी कुपवनसे व्रतका फल जैसा चाहिये वैसा नहीं फलता। कुछ कम फलता है। वे अतीचार ये हैं—(१) मनोदुष्प्रणिधान, (२) वचनदुष्प्रणिधान, (३) कायदुष्प्रणिधान, (४) अनादर और (५) स्मृत्यनुपस्थान। आदिके तीन अतीचारों का अभिप्राय है—मन वचन और शरीरका अनुचित रीतिसे प्रयोग करना अनादरका अभिप्राय है—अनादरसे बड़ा तथा प्रवृत्ति करना या प्रारम्भ किये हुए सामायिकको पूर्ण होनेसे पहले ही समाप्त कर देना। और स्मृत्यनुपस्थानका अभिप्राय है—सामायिक कर लिया है या नहीं उसे भूल जाना या उसे व्यवस्था पूर्वक नहीं करना। जहाँ तक हो सके इन अतिचारोंको टालते रहना चाहिये।

(२१) संयम।

सामायिकका दूसरा लक्षण है—'संयम'। इसका अर्थ है सं=भली भाँति, यम=नियम। अर्थात्—पाँचों इन्द्रियोंके तेईस विषय और दोसौ बावन विकारोंको वशमें रख कर आत्म स्व-भावकी ओर प्रवृत्ति करना।

(२२) शुभ भावना।

सामायिकका तीसरा लक्षण है—'शुभ भावना'। इसके चार भेद हैं—मैत्री, कारुण्य, प्रमोद और माध्यस्थ। इनके विषयमें हरिभद्रसूरिने लिखा है—

परहितचिन्ता मैत्री, परदुःखविनाशिनी तथा करुणा।
परसुखतुष्टिर्मुदिता, परदोषोपेक्षणमुपेक्षा ॥१७॥

अर्थात्—दूसरे प्राणियोंकी भलाईको विचारना, करना और करवानेकी इच्छा रखना। 'आत्मवत्सर्वभूतेषु' अर्थात् अपने समान ससारके सभी प्राणियोंको समझते हुए उनसे मित्रताका वर्ताव करना। जिस तरह मनुष्य अपने किसी खास मित्रकी भलाई चाहता रहता है उसी प्रकार संसारके समस्त प्राणियोंके भलाईकी इच्छा रखना और करना, यह मैत्री भावना है।

शारीरिक, आध्यात्मिक आदि पीड़ाओंसे पीड़ित व्यक्तियोंको पीडासे छुड़ाना—दु खोंसे बचाना और उन्हें शान्ति पहुँचानेके-लिये दुःखित प्राणियोंपर करुणाकी भावना भानी, उनकी शान्ति-केलिये उपाय ढूँढना और उसकेलिये अपना भोग देकर—स्वार्थ त्यागकर अपनेको कृतार्थ मानना, यह करुणा भावना है।

अन्य प्राणियोंको सुखी और भला-चङ्गा देखकर अत्यन्त प्रसन्न होना, प्रमोद भावना है। अपने पास औरोंकासा सुख यदि न हो और उसे पानेकी यदि अभिलाषा हो तो उसकेलिये प्रवल

प्रयत्न करना या वैसा हो जानेकी स्पर्धा करना, यह दूसरी बात है। परन्तु दूसरोंके सुखोंको देखकर ईर्ष्या तो कदापि न करना चाहिये। कोई मनुष्य थोड़ेसे ही समयमें यदि किसी प्रकारकी कला, विद्या, लक्ष्मी, सिद्धि पा ले अथवा और किसी प्रकारका सुख भोगता हुआ दिखाई पड़े तो उसके गुणोंकी ओर अपनी निगाह रखना चाहिये और प्रमुदित होना चाहिये। हमेशा मनुष्यको चाहिये कि वह दूसरोंके गुणोंकी ओर ही अपनी निगाह रक्खे, दोषोंकी ओर नहीं। क्योंकि "यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी" अर्थात् जिसकी जैसी भावना रहती है उसको वैसी ही सिद्धि होती है। दोषोंको देखनेवाले पुरुषके दिमागमें दोष ही वास करते हैं और उससे फिर दोष ही बनते हैं। गुणोंको देखने वाले पुरुषके दिमागमें गुण ही वास करते हैं और उससे फिर भले ही काम बनते हैं। क्योंकि उसके दिमागमें गुणोंके पवित्र परमाणु भरे रहनेके कारण उस गुणग्राहकका दिमाग गुणमय बन जाता है। प्रत्येक वस्तुमें गुण और दोष दोनों ही रहते हैं। इसलिये हमेशा गुणग्राहक ही बुद्धि बनाये रखना चाहिये। और प्राचीन कालके उत्तम पुरुषोंके उत्तम गुणोंका चिन्तन हमेशा करते रहना चाहिये। जैसे कि तीर्थंकर महाराजका मैत्रीभाव, गजसुकुमार, महाबल मुनि, सुकोशल मुनि आदिकी क्षमा, धर्मरुचि अनगारकी दया, विजय सेठ और विजया सेठानीका ब्रह्मचर्य खन्धक संन्यासीके पाँचसौ शिष्योंकी दृढ़ता इत्यादि। इस तरह उत्तम पुरुषोंके उत्तम चरित्र और उनके गुणोंकी विचार कर उत्तमताका ग्राहक बनना और उन गुणोंसे प्रमुदित होना प्रमोद भावना है।

अन्य प्राणियोंके दोषोंकी ओर उदासीनभाव रखना माध्यस्थ भावना है। संसारमें अनेक प्राणी महापापी क्षुद्र क्रूर, निन्दक, विश्वासघाती, असत्यप्रिय, निर्दय, व्यभिचारी आदि होते हैं।

ऐसे मनुष्य अपनी अधम कृतियोंसे अभ्यन्तरमें तो मरे हुएसे होते ही हैं, लोग उन्हें गालियोंकी बौछारसे और भला-बुरा कह-कह ऊपरसे और भी दुःखित करते हैं। उन्हें ऐसा न करना चाहिये। उन्हें उन अपराधी—दोषी लोगोंपर दया करना चाहिये और उन्हें सुधारनेका प्रयत्न करना चाहिये। उन्हें अपने मनमें यह सोचना चाहिये कि जिस तरह मैं सुखकी खोजमें, जहाँ तक हो सकता है, प्रयत्न करता हूँ, उसी तरह अधर्मी लोग भी सुखकी खोजमें, जहाँतक हो सकता है, प्रयत्न करते हैं। मेरी तरहसे वे भी सुखाभिलाषी ही हैं। वे भी सच्चे सुखकी खोचमें ही हैं। किन्तु इन्हें कुसंगके प्रतापसे—खोटी सोहवतकी वज़हसे कुमार्ग ही मिला है। इसलिये इनका मन सुमार्गमें न लग कर कुमार्गमें ही भटकता है। और वे अज्ञानतासे—मूर्खतासे कुमार्गको ही सुमार्ग मानकर अधर्ममें ही रचे रहते हैं। वे स्वतन्त्र नहीं है, किन्तु नशेमें चकचूर हैं—नशेके आधीन हैं। जिस तरह भरपूर नशेसे बेहोश पागलपर विना नशेवाला या थोडे नशेवाला आदमी उसके पागलपनपर निर्दय नहीं होता, किन्तु उसपर दयालु होता है, उसी तरह सुज्ञ पुरुष अविद्याके बनमें सोये हुए अधर्मीपर हमेशा यही भाव रखते हैं कि यह कब सत्यको समझे और कब धर्मरूप सत्य पन्थकी ओर गमन करे। बस, यही माध्यस्थ भावना है।

ये चार तो मुख्य भावनाएँ हैं। इनके अतिरिक्त बारह भावनाएँ और भी हैं। इनके नाम ये हैं—(१) अनित्य, (२) अशरण, (३) संसार, (४) एकत्व, (५) अन्यत्व, (६) अशुचि, (७) आस्रव, (८) संवर, (९) निर्जरा, (१०) लोक, (११) बोध, और (१२) धर्म। ये भावनाएँ भी भाने योग्य हैं। लेकिन इनका विशेष विवरण लिखनेकी यह जगह—प्रकरण नहीं है। भावनाके ही जो ग्रन्थ हैं, जैसे 'भावनाबोध', 'भावनासग्रह' आदि, उनसे इनका स्वरूप समझलेना चाहिये।

(२३) ध्यान।

सामायिकका चौथा लक्षण—प्रशस्तध्यानका करना और अप्रशस्तध्यानका त्यागना है। प्रशस्तध्यान हृदयको शुद्ध करनेकेलिए यथोचित उपाय है। इस विषयमें 'स्थानाङ्ग' और 'समवायाङ्ग' सूत्रमें कहा गया है—

से किं तं झाणे? चउव्विहे पन्नत्ते। तंजहा—
अट्टे झाणे, रुद्दे झाणे धम्मे झाणे, सुक्के झाणे।

अर्थात्—हे प्रभो! ध्यान कितने प्रकारका है? ध्यान चार प्रकारका है। आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल। इनमेंसे आदिके दो अप्रशस्त—खराब हैं और अन्तके दो प्रशस्त—अच्छे हैं।

जीवको अनादिकालसे अप्रशस्त ध्यानोंमें मग्न रहनेकी आदत पड़ी हुई है। उसे छुड़ाकर प्रशस्त ध्यानमें जीवको लगा देना, यह सामायिकका चौथा लक्षण है।

(२४) आर्तध्यान।

ऋत=पीड़ा=दुःख, इसके उत्पन्न होनेपर जो ध्यान होता है, उसको 'आर्तध्यान' कहते हैं। आर्तध्यानवालेकी स्थिति ऐसी हो जाती है, जैसी किसीकी संपत्ति लुट गई हो और दरिद्री हो गया हो। यह ध्यान चार प्रकारसे उत्पन्न होता है। (१) इष्टके वियोगसे, (२) अनिष्टके संयोगसे (३) रोगसे और (४) किसी अप्राप्य वस्तुके पानेकी इच्छासे। इस तरह चार प्रकारसे जो खोटा ध्यान होता है, उसे 'आर्तध्यान' कहते हैं।

इस ध्यानके पहले तो यह मालूम पड़ता है कि मन शान्ति पायेगा। लेकिन बादमें शान्तिके बदले मन अशान्तिके परिणामपर ही पहुँचता है। इस ध्यानमें कृष्ण नील और कापोत जैसी अशुभ लेश्याओंका उद्गम होता है।

इस ध्यानके आक्रन्दन, शोक, व्याकुलता, भय, प्रमाद, क्लेश, विषयाभिलाषा, थकान, जड़ता, मोह, निद्रा, विह्वलता आदि चिह्न हैं। इस ध्यानका फल अनन्त दुःखोंसे व्याप्त और पराधीनतामय तिर्यञ्चगति है।

(२५) रौद्रध्यान।

रुद्र अर्थात् क्रूर, भयकर आशयसे उत्पन्न होनेवाले ध्यानको 'रौद्रध्यान' कहते हैं। इस ध्यानके भी चार प्रकार हैं—(१) हिंसानन्द, (२) मृषानन्द, (३) चौर्यानन्द और (४) विषयसंरक्षणानन्द। यह ध्यान आर्तध्यानसे भी अधिक खराब है। इस ध्यानको करनेवाला मनुष्य अपने और पराये दोनोंको हमेशा नुकसान पहुंचाता है। धर्मका स्वरूप इससे हजारों मील दूर रहा करता है। इस ध्यानके अभ्यन्तर चिह्न क्रूरता, दुष्टता, निर्दयता, शठता, कठोरता, अभिमान, नीचता, निर्लज्जता होते हैं। और बाह्य चिह्न मुखकी विकरालता, आखोंका लाल होना, भौंहोंका टेढ़ापन, आकृतिको भयग्नकता, कंपन आदि होते हैं। इस ध्यानका फल महाभयकर, असह्य एव अनन्त दुःखोंसे व्याप्त और प्रचुर पराधीनता वाली नरक गति है। इसलिये बुद्धिमान् पुरुषोंको चाहिये कि वे जहातक हो सके आर्त और रौद्र ध्यानसे बचते रहनेका प्रयत्न करते रहें।

(२६) सामायिकके चार अङ्गोंका उपसंहार।

समता, संयम, शुभ भावना और अशुभ ध्यानोंको छोडकर शुभ ध्यानोंका धारण करना, सामायिकके ये जो चार अङ्ग बतलाये हैं, उनमें समता ही मुख्य है। शेष अङ्ग इसके उद्योतक हैं। सयम करके, शुभ भावनाएँ भाकर और प्रशस्तध्यान धारण करके समस्थितिको पाना उसका उद्देश्य है। इसलिये सामायिकके समय, जिस तरह हो सके, इन्द्रियोंको वशमें रखना और प्रगाढ अन्ध-

कारवाली अपार गुफामेंसे निकलकर अचल, अजर एवं आनन्दरूप सूर्यकी ओर आनेकेलिये प्रयास-ध्यान और शुभ भाव धारण करना चाहिये तथा मन, वचन, कायसे प्रत्येक आत्मिक सानुकूलताका सेवन करना चाहिये। जिस समय प्रतिकूलताके पहाड़को ढानेके लिये प्रबल प्रयत्न किया जायगा, प्राणियोंको शुद्ध सामायिकका अपूर्व लाभ उसी समय मिलेगा।

(२७) सामायिकका रहस्य।

सामायिक योगकी ही एक क्रिया है। जो आशय योगका है, वही आशय सामायिकका है। जिस तरह योग यम नियम आदि संकल्पपूर्वक क्रम-क्रमसे साधा जाता है, उसी तरह समस्थिति भी क्रम-क्रमसे ही साधी जाती है। योगका मतलब है—ध्यानके बलसे आत्माको परमात्माके स्वरूपमें लगा देना अर्थात् शुद्ध स्वभावका पाना और अशुद्ध स्वभावका—विभाव परिणतिका छोड़ना। यही मतलब सामायिकका है अर्थात् आत्माके शुद्ध स्वभाव—समस्थितिको पाना और विषमस्थितिको छोड़कर आत्मस्वरूपमें लीन होना। सामायिक और योग, ये दोनों क्रियायें एक ही साध्यकी सिद्ध करनेवाली लगभग समान साधिका हैं। इन उत्तम उत्तम क्रियाओंको विधिपूर्वक करके आत्मिक अपूर्व शान्ति प्राप्त करना, यही सामायिकका रहस्य है।

(२८) अष्टाङ्ग योगका सामान्य परिचय।।

योगके आठ अङ्ग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इनमेंसे यमके पाँच भेद हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। नियमके पाँच भेद हैं—शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और परमात्मप्रणिधान। आसनके चौरासी भेद हैं—उनमेंसे कितनेक सुसाध्य हैं और कितनेक दुस्साध्य हैं। उनमेंसे पद्मासन विशेष सुखसाध्य है।

बाँयें पैरको दायीं जंघापर रखना और दायें पैरको बांयीं जंघापर रखना पद्मासन है। इसका अभ्यास बिना किसी विशेष कठिनताके किया जा सकता है।

प्राणायाम—अर्थात् श्वासोच्छ्वासकी शुद्ध क्रिया। नासिकाके बायें छिद्रसे श्वासका निकलना 'चन्द्रस्वर' और दायेंसे निकलना 'सूर्यस्वर' कहलाता है, और दोनोंमेंसे एक साथ निकलनेको 'शुष्मणा' कहते हैं। श्वासको खींचकर अभ्यन्तरमें भरनेको 'पूरक' और कुछ समय तक उसे रोक रखनेको 'कुम्भक' कहते हैं। और रोके हुये श्वासको धीरे-धीरे बाहर निकालनेको 'रेचक' कहते हैं। इस पूरक, कुम्भक और रेचक क्रियाको गुरुशिक्षाके बिना बारबार करनेसे किसी समय नुकसान होनेकी भी संभावना है। श्वासको चन्द्रनाड़ीसे खींचकर कुछ समय तक कुम्भक करके उसे सूर्यनाडीसे निकालना और श्वासको सूर्यनाडीसे खींचकर कुछ समय तक कुम्भक करके उसे चन्द्रनाड़ीसे निकलना, यह प्राणायाम है। यह क्रिया क्रमपूर्वक स्वस्थचित्तसे शान्तिके साथ की जाती है। इसे भोजनके बाद तुरन्त नहीं करना चाहिये। इस क्रियाके करते रहनेसे कुछ समयके बाद भारी लाभ होता है। चित्तकी चञ्चलता कम हो जाती है और शान्ति बढ़ जाती है तथा हृदय बलवान् बनता है।

प्रत्याहार—पाँचों इन्द्रियों और छठे मनके विषय विकारोंको गुरुगमकी लगामसे खींचकर वैराग्यके पवित्र जलसे उसे शान्त करना, शास्त्रोंके श्रवण-मनन-चिन्तन-जन्य विचारोंकी प्रवलतासे विकारोंको आधीन करना, आत्मा जो अनादि कालसे विषय विकारोंके आधीन बना हुआ है, उसे विशुद्ध प्रयोगोंद्वारा स्वाधीन बनाना प्रत्याहार नामका अङ्ग है।

धारणा—विपय विकारोंके दमन हो जानेके बाद जिसका ध्यान अपनेको करना है, उसपर चित्तको रोकना, उसपर चित्त स्थिर

करनेकेलिये बार-बार प्रयत्न करना, स्थिर करना, इसका नाम धारणा है।

ध्यान—अष्टाङ्गयोगमें ध्यानके चार भेद बतलाये गये हैं—पदस्थ, पिण्डस्थ रूपस्थ और रूपातीत। अरिहन्त, महावीर, ओंकार आदि किसी भी प्रिय पदपर चित्तको लगाना और उस पदका चिन्तन करना पदस्थ ध्यान है। किसी भी प्रिय पदार्थपर अथवा अपने शरीरके भृकुटी, नासिका आदि किसी उत्तमाङ्ग—अवयवपर दृष्टि लगाकर इष्टका ध्यान करना, पिण्डस्थ ध्यान है। श्वेत आदि किसी रंगका अवलम्बन लेकर उसपर दृष्टि लगाना—पहले बाह्य दृष्टि जोड़ना, पश्चात् आभ्यन्तर दृष्टि जोड़ना, जो पदार्थ साक्षात् दिखलाई देता हो उसपर आभ्यन्तर दृष्टि जोड़ना, रूपस्थ ध्यान है। किसी भी पदार्थका आलम्बन न लेकर निरञ्जन रूपका ध्यान करना—निरञ्जनमें चित्तका ठहराना, रूपातीत ध्यान है। जैन शास्त्रोंमें ध्यानका जो विषय बतलाया गया है, उसका मैं सूक्ष्मरूपसे पीछेसे दिग्दर्शन कराऊँगा।

समाधि—प्रथमाङ्ग यमके अहिंसादि पाँचों भेदोंको मनमें दृढ़ संकल्पपूर्वक धारण करके, द्वितीयाङ्ग नियमके शौचादि पाँचों भेदोंको यथाविधि पालन करके, पवित्र होता हुआ सांसारिक जहरीली वासनाओंको त्याग करके परमात्माके नामपर सर्वस्व अर्पण करके, सिद्ध किये हुए पद्मासनादिसे पदस्थादि ध्येय वस्तुमें चित्तको लगाकर ध्याताका ध्येयाकार होना समाधि कहलाती है।

ध्यान करनेवाला 'ध्याता' कहलाता है। और जिस वस्तुका ध्यान किया जाता है, उसे 'ध्येय' कहते हैं। ध्यानके समयमें जब तक ध्याता ध्येयको अपनेसे भिन्नरूप में भान करता है तबतक ध्याता अलग है और ध्येय अलग है। लेकिन ध्यान करते-करते जब ध्याता ध्येयमें ऐसा तल्लीन हो जाता है कि उसे अपने और

ध्येयके पृथक्त्वका भान ही नहीं रहता (ध्याताके ध्यानका ध्येयमय हो जाना) तब ध्याताकी यही दशा ध्येयाकार कहलाती है।

इस ध्येयाकार दशामें ध्याता वास्तविक अनुभवका आनन्द करने लगता है। उसकी दृष्टिमें पौद्गलिक विलास तुच्छसदृश हो जाते हैं। उस समय उसे अभूतपूर्व शान्ति और अद्वितीय सुखानुभव होता है। उस समय उसे संसारका लेशमात्र भी भान नहीं होता। ऐसी स्थिति पुरुषको तीव्र अभिलाषा, सानुकूल सयोग और लम्बे समयके शुद्ध पुरुषार्थसे ही प्राप्त होती है। समाधि दुःसाध्य अवश्य है, पर असाध्य नहीं है।

अष्टाङ्ग योगका किंचिन्मात्र यह वर्णन यहा ख्यालमें लानेके लिये लिखा गया है। ख्यालमें लानेका कारण यह है कि जब मैं सामायिककी योजनाके साथ मेल मिलाऊँगा तो आपकी समझमें आजायगा कि सामायिक समाधि प्राप्त करनेकी ही एक क्रिया है। और इसीलिये सामायिक प्रदेशमें प्रवेश किया जाता है।

(२६) सामायिककी विधि।

पवित्र और एकान्त स्थानमें ऊनके एक कपड़ेपर बैठकर शुद्ध शरीरके ऊपर एक वस्त्र पहरनेका और एक वस्त्र ओढ़नेका धारण करे और हृदयको पवित्र करनेकेलिये सामायिक करने वाला सामायिक व्रतके पाठोंका उच्चारण करे—

पहला पाठ—पञ्च परमेष्ठीको अत्यन्त प्रेमभक्तिपूर्वक नमस्कार करनेकेलिये है। यह पाठ मगलरूप है, प्रत्येक मागलिक कार्योंमें आदि मगलरूप है, सपूर्ण शास्त्रोंका साररूप है, समस्त पापोंका नाशक है, दुःखोंसे छुड़ानेवाला है, अभिलषित फलको देने वाला है। शास्त्रोंमें इस महामन्त्रकी अपार महिमा वखानी गई है। उसमेंसे दो एक श्लोक नीचे देता हूँ, जिससे कि उसकी महिमाका भान हो सके—

संग्रामसागरकरीन्द्रभुजङ्गसिंह, दुर्व्याधिवह्निरिपुबन्धनसंभवानि।
चौरग्रहभ्रमनिशाचरशाकिनीनां, नश्यंति पञ्चपरमेष्ठिपदैर्भयानि॥१८
किं मन्त्रयन्त्रौषधिमूलकाभिः, किं गारुडादिभ मणीन्द्रजालैः।
स्फुरन्ति चित्ते यदि मन्त्रराज,-पदानि कल्याणपदप्रदानि॥१९॥
कृत्वा पापसहस्राणि, हत्वा जन्तुशतानि च।
अमुं मन्त्रं समाराध्य, तिर्यञ्चोपि दिवं गताः॥२०॥

अर्थात्—युद्ध, समुद्र, बड़ा हाथी, सर्प, सिंह, दुष्ट व्याधि, अग्नि, शत्रु, जेलखाना दुष्ट ग्रह, भ्रमण, राक्षस, चुड़ैल आदिसे उत्पन्न हुए भय पञ्च परमेष्ठीके पदसे नष्ट हो जाते हैं॥१८॥

कल्याणपदको देनेवाले परमेष्ठीके मन्त्रराजको यदि लोग अपने चित्तमें स्फुरायमान करें—इन पदोंका रात-दिन श्रद्धा-पूर्वक स्मरण करें तो उन्हें अन्य तन्त्र मन्त्र औषधि, जड़ी-बूटी, गारुड़ादि मन्त्र, मणि इन्द्रजाल आदिसे क्या? अर्थात् उन्हें दूसरी वस्तुओंकी आवश्यकता नहीं॥१९॥

हजारों पापोंको कर और सैकड़ों जीवोंको मारकर भी पीछे से जिन्हें सुबोध हो गया है ऐसे तिर्यञ्च प्राणी भी इस महामन्त्रके आराधनसे देवगतिको प्राप्त हुए हैं तो फिर औरोंकी क्या बात? २०

पञ्चपरमेष्ठीके मन्त्रकी महिमा जैन शास्त्रोंमें इतने विस्तारसे बतलाई गई है कि विधिपूर्वक इस एक ही मन्त्रकी साधना करने से अड़तालीस हजार विद्याएँ सिद्ध होती हैं। यह महामन्त्र आत्म-कल्याणकेलिये अग्रसर है।

लक्ष्मीपात्रकी सच्चे दिलसे सेवा करनेसे लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है, विद्यापात्रकी सच्चे दिलसे सेवा करनेसे विद्याकी प्राप्ति होती है तो फिर अनन्त शक्तिमान् परमात्मादि पञ्चपरमेष्ठीकी शुद्ध अन्तःकरणपूर्वक सेवा करनेसे अक्षय्य और सर्व वाञ्छित

फलकी प्राप्ति हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या ? इस मंगलरूप कार्य की आदिमें मगलरूप यह पहिला पाठ है।

दूसरा पाठ—कल्याणके करनेवाले, मंगलके करनेवाले, ज्ञान रूप नेत्रोंके देनेवाले देवरूप सद्‌गुरुओंके प्रति बहुमान प्रदर्शित करनेवाला और भक्तिकेलिये अभिवन्दन करनेवाला दूसरा पाठ है। इसका उद्देश्य है कि यदि सद्‌गुरुओंकी कृपा हो तो अपना कार्य निर्विघ्नतया समाप्त हो।

तीसरा पाठ—अनेक पापरूप आवरणोंसे ढके हुए—मलीन हुए अन्तःकरणको शुद्ध करनेकेलिये—हृदय पवित्र बनानेकेलिये—काले कर्मरूप कीटाणुओंको दूर करनेकेलिये इस पाठके बोलनेकी आवश्यकता है। जैसे—किसी क्षेत्रमें यदि बीज बोना हो तो पहले उसे बोने योग्य बना लिया जाता है। वैसे ही हृदयरूपी क्षेत्रमें परमशान्ति, परमानन्द, समस्थितिरूप कल्पवृक्षको उगानेकेलिये हृदयको शुद्ध करनेका संकल्प करना चाहिये। इसलिये तीसरे पाठका आशय यह है कि संसारके प्रत्येक कार्यमें मन-वचन-कायको व्यवहार करनेसे मेरी आत्मा जो पङ्कलिप्त हो गई है, उसको मैं शुद्ध करता हूँ। उन पापोंको मैं छोड़ता हूँ। वे दोष मेरे से दूर हों और मेरे वे दुष्कृत्य निष्फल हों।

चौथा पाठ—विशेष शुद्ध होनेकेलिये, अठारह पापोंका उच्छेद करनेकेलिये, दुष्कार्यसे उत्पन्न होनेवाले दोषोंको टालकर आत्मिक क्षेत्रको शुद्ध—निर्मल बनानेकेलिये थोडेसे समयकेलिये जो कायोत्सर्ग किया जाता है, उस कायोत्सर्गमें हो जाने वाली भूलोंकेलिये बार-बार स्मरण करके नम्रतापूर्वक परमात्माके पास क्षमायाचना करके अन्त क्षेत्रको विशुद्ध करना चाहिये। इसकेलिये चौथा पाठ है।

पाँचवाँ पाठ—जिस तरह जोते हुए विशुद्ध क्षेत्रको वर्षासे नरम और रसयुक्त बनानेकी आवश्यकता है, उसी तरह ऊपरके

संग्रामसागरकरीन्द्रभुजङ्गसिंह, दुर्व्याधिवह्निरिपुबन्धनसंभवानि।
दुष्टग्रहभ्रमनिशाचरशाकिनीनां, नश्यन्ति पंचपरमेष्ठिपदैर्भयानि॥१८॥
किं मन्त्रयन्त्रौषधिमूलकाभिः, किं गारुडादिव मणीन्द्रजालैः।
स्फुरन्ति चित्ते यदि मन्त्रराज,-पदानि कल्याणपदप्रदानि॥१९॥
कृत्वा पापसहस्राणि, हत्वा जन्तुशतानि च।
अमुं मन्त्रं समाराध्य, तिर्यञ्चोपि दिवं गताः ॥२०॥

अर्थात्—युद्ध, समुद्र, बड़ा हाथी, सर्प, सिंह, दुष्ट व्याधि, अग्नि, शत्रु, बेलबाला, दुष्ट ग्रह, भ्रमणा, राक्षस, चुड़ैल आदिसे उत्पन्न हुए भय पञ्च परमेष्ठीके पदसे नष्ट हो जाते हैं॥१८॥

कल्याणपदको देनेवाले परमेष्ठीके मन्त्रराजको यदि लोग अपने चित्तमें स्फुरायमान करें—इन पदोंका रात-दिन श्रद्धा-पूर्वक स्मरण करें तो उन्हें अन्य मन्त्र यन्त्र औषधि, जड़ी-बूटी, गारुणादि मन्त्र, मणि, इन्द्रजाल आदिसे क्या? अर्थात् उन्हें दूसरी वस्तुओंकी आवश्यकता नहीं॥१९॥

हजारों पापोंको कर और सैकड़ों जीवोंको मारकर भी पीछे से जिन्हें सुभाव हो गया है ऐसे तिर्यञ्च प्राणी भी इस महामन्त्रके आराधनसे देवगतिको प्राप्त हुए हैं तो फिर औरोंकी क्या बात? २०

पञ्चपरमेष्ठीके मन्त्रकी महिमा जैन शास्त्रोंमें इतने विस्तारसे बतलाई गई है कि विधिपूर्वक इस एक ही मन्त्रकी साधना करने से अड़तालीस हजार विद्यायें सिद्ध होती हैं। यह महामन्त्र कल्याणकारी अग्रसर है।

लक्ष्मीपात्रकी सच्चे दिलसे सेवा करनेसे लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है, विद्यापात्रकी सच्चे दिलसे सेवा करनेसे विद्याकी प्राप्ति होती है तो फिर अनन्त शक्तिमान् परमात्मादि पञ्चपरमेष्ठीकी शुद्ध अन्तःकरणपूर्वक सेवा करनेसे अनन्त और सर्व शक्तिवान

अर्थात्—प्रशान्त बुद्धिवाले मुनि इन्द्रियोके विषयोंसे इन्द्रिय और छठे मनको खींचकर जहाँ-जहाँ ध्यान लगानेकी इच्छा हो, वहाँ-वहाँ जो ध्यान लगाते हैं, उसे प्रत्याहार कहते हैं ॥२१॥

'योगशास्त्र'में भी लिखा है:—

इन्द्रियैः सममाकृष्य, विषयेभ्यः प्रशान्तधीः ।
धर्मध्यानकृते पश्चान्मनः कुर्वीत निश्चलम् ॥२२॥

अर्थात्—शब्दादि पाँच विषयोसे इन्द्रिय और मनको खींचकर प्रशान्तबुद्धिवाले मुनिको ·ध्यान करनेकेलिये मनको निश्चल करना चाहिये ॥२२॥

इस तरह वाह्य और आभ्यन्तर इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाकर-प्रत्याहारकी सिद्धि कर लेनेके बाद सामायिकार्थीको धारणा करना चाहियेः—

नाभिहृदयनासाग्र,-भालभ्रूतालुदृष्टयः ।
मुख कर्णौ शिरश्चेति, ध्यानस्थानान्यकीर्तयन् ॥२३॥

अर्थात्—नाभि, हृदय, नासिकाका अग्रभाग, कपाल, भ्रकुटी, तालु, दृष्टि, मुख, कान और मस्तक, ये दश उपाङ्ग ध्यान के—धारणाके स्थान कहे गये हैं ॥२३॥

इन स्थानोमें अन्तर्दृष्टिको स्थिर करके चित्तको ओंकार आदि शब्दोंमें लगाना चाहिये और परम इष्ट शब्दोंका ध्यान करना चाहिये। कदाचित् ऐसा न हो सके तो पवित्र परमेष्ठी पुरुषोंके सद्‌गुणोंका, चरित्रोंका, स्वरूपोंका, शक्तियोंका एवं परोपकारादि कार्योंका चिन्तन करना चाहिये अथवा उनके नामोंका जाप करना चाहिये। इस कार्य्यमें शुरूमें यदि मन न लगे तो भी उससे अकुलाना न चाहिये। पूर्वकथनानुसार अभ्यास करते-करते उन्हें उसमें क्रम-क्रमसे आनन्द आने लगेगा और चार-छह महीनेमें ही उन्हें

चार पाठोंसे उत्कीर्ण और शोभित हृदय क्षेत्रमें चौबीस तीर्थंकरों का कीर्तनरूपी अमृत रसका सिंचन करनेकेलिये "लोगस्स" का पाठ है। इस पाठका पहला श्लोक अनुष्टुप् छन्दमें है और शेष श्लोक आर्या छन्दमें। इन छन्दोंको मधुर स्वरमें गाकर चित्तको उनके अर्थोंमें लगाना चाहिये। और गाते गाते ऐसी कल्पना करना चाहिये कि हमारे हृदय क्षेत्रमें परमात्म-स्मरणरूप अमृतका सिंचन हो रहा है।

छठा पाठ—क्षेत्रकी शुद्धि हो जानेके बाद तथा उसमें वर्षा हो जानेके बाद उसमें समभावका बीज बोने रूप संकल्प करना कि अन्तर्मुहूर्त (दो घड़ी) पर्यन्त प्राणातिपात आदि अठारह पापोंमें से एक भी पाप मनसे, वचनसे, कायसे न करूँगा और न कराऊँगा। ऐसा दृढ़ संकल्प करके आसन माँडकर सामायिक करने वालेको पूर्ण शान्त अवस्थामें बैठना चाहिये। इसकेलिये छठा पाठ है।

सातवाँ पाठ— भूत तीर्थंकर तथा अपने उपकारी गुरुओं का विधिपूर्वक शुद्ध मनसे स्मरण-सत्कारपूर्वक नमस्कार करना चाहिये। इसकेलिये सातवाँ पाठ है।

(१०) सामायिकका समय किस तरह व्यतीत करना चाहिये।

मंगल पाठसे प्रारम्भ करके छठे पाठ तक यम, नियम और आसन, इन तीन योगाङ्गोंका समावेश हो जाता है। बादमें प्रत्याहारादि अङ्गोंको सामायिकके समयमें साधना चाहिये। प्रत्याहारके विषयमें 'ज्ञानार्णव'में लिखा है—

समाकृष्येन्द्रियार्थेभ्यः, साक्षं चेतः प्रशान्तधीः।
यत्र यत्रेच्छया धत्ते, स प्रत्याहार उच्यते ॥२१॥

कूल है। परन्तु फिर भी अपने पूर्वाचार्योंने व्याख्यानके समय सामायिक करनेकी जो पृथा चलाई है उसका अभिप्राय यह है कि जिन लोगोंको धार्मिक रुचि नहीं है, ऐसे प्रमादी लोग इस क्रिया को सर्वथा छोड देंगे। इसीलिये व्याख्यानके समय सामायिक करने का निषेध उनने नहीं किया। इस कथनसे सिर्फ हमें यह बत-लाना है कि जिनके घरमें सामायिक करनेकी सुविधा हो, उन्हें वहाँ सामायिक करना न भूलना चाहिये। किन्तु जो व्याख्यान सामायिकको पुष्ट करता हो—वैराग्यमय, न्यायमय उत्तम प्रकार की भावनाओंसे भरपूर हो, रसमय हो, वहाँ सामायिककी विशेष अनुकूलता है। और जहाँ राम-रावणका युद्ध बाँचा जाता हो या जो व्याख्यान श्रोताओंको रुलाता हो, हँसाता हो, वीररसको उत्ते-जित करता हो, अर्थात् समभावके प्रतिकूल रस बरसाता हो, वहाँ इस बातको ध्यानमें रखते हुए कि वहाँ जैसा प्रकरण चलता होगा श्रोताओके विचार वैसे हुए विना रह नहीं सकते, एकका जय और दूसरेका पराजय सुनकर रागद्वेषकी परणति उत्पन्न होती ही है, वहाँ स्थिरतानुसार सवर करना चाहिये।

कुछ लोगोंकी यह आदत होती है कि जिस समय शान्तरस का उपदेश हो रहा हो या प्रभुकी स्तुति हो रही हो, उस समय आनु-पूर्वी या णमोकारकी माला फेरनेका काम वे शुरू करते हैं। उनका यह कार्य बिल्कुल अयोग्य है। क्योंकि इससे न व्याख्यान सुना जाता है और न णमोकारकी मालामें ही ध्यान रहता है, जिससे वे 'यतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः' हो जाते हैं। इसलिये सामायिकके समय में तो एकचित्तसे व्याख्यान सुनना चाहिये, व्याख्यान सुननेका सयोग न हो तो वैराग्य या समताभावकी वृद्धि करनेवाली पुस्तकें पढनी चाहिये या सुननी चाहिये, अथवा पूर्वमें याद किये हुए धार्मिक पाठोंका मनन, पुनरावर्तन या चिन्तन करना चाहिये, अथवा कायो-त्सर्ग करना चाहिये, अथवा पूर्वाचार्योंके चरित्रोंका स्मरण करना

यह अपूर्व लाभ दिखलाई पड़ेगा कि उनका चञ्चल मन स्थिरता के नवीन पाठका अभ्यासी—आदी बनकर समय स्थिरताका सेवन करने लगा है। इतना ही नहीं, किन्तु हृदय-प्रदेशमें आनन्दका फव्वारा छूटने लगेगा। यह हो सकता है कि हरएक आदमीसे यह क्रिया न बन सके। जिनसे ऐसी क्रिया न बन सकती हो, उन पुरुषोंको पूर्वोक्त अनुसार सामायिकका शुद्ध उच्चारण करना चाहिये और नीचे लिखे अनुसार समयको व्यतीत करना चाहिये।

आत्माको प्रशस्त बनानेवाले वैराग्यमय, न्यायमय, ज्ञानमय प्रबोध सुनानेवाले किसी महात्माका यदि संयोग मिला हो तो उनके उपदेशको शान्तचित्तसे सुनना चाहिये। यदि ऐसा संयोग न मिला हो तो वैराग्यमय, न्यायमय, ज्ञानमय प्रबोधक किसी पुस्तकको पढ़ना चाहिये। यदि कोई ऐसी पुस्तकको बाँच रहा हो तो उसे ही एकाग्र चित्तसे सुनना चाहिये। यदि इन दोनों संयोगोंमेंसे एक भी संयोग किसीको न मिला हो तो उसे समझना चाहिये कि पञ्च परमेष्ठी तथा अरिहन्त सदृश पवित्र मार्गोंका उच्चारण कोई पुरुष अन्तरङ्गमें कर रहा है, वह हमारे सुनाई नहीं दे रहा है तो भी उसकी संकल्पित ध्वनिके ऊपर चित्त को थाँमकर मालाके मनिये फेरना चाहिये। इस तरह निश्चित किया हुआ समय शान्तिके साथ व्यतीत करना चाहिये। चञ्चल मनको रोकनेका अभ्यास करते समय यह कूद-कूद कर बार-बार अपने पूर्व परिचित स्थानोंमें जाता है। लेकिन उसे फिर-फिर पकड़ कर, समझा कर, शान्त कर पवित्रपदमें जोड़ना चाहिये। हिम्मत न हारना चाहिये। विवेकपूर्वक और श्रद्धासहित क्रम-क्रमसे इस क्रियाको करते रहनेसे अतुल लाभकी प्राप्ति होती है।

प्राचीनकालमें श्रावक लोग अपने घरकी पोषधशालामें ही सामायिक करते थे। लेकिन वैसा प्रबन्ध न होनेसे अब वे व्याख्यानमें सामायिक करते हैं। सामायिकके लिये एकान्त स्थान विशेष अनु-

द्वितीय भाग।

मङ्गलाचरण।

अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिताः सिद्धाश्च सिद्धिस्थिताः,
आचार्या जिनशासनोन्नतिकराः पूज्या उपाध्यायकाः।
श्रीसिद्धान्तसुपाठका मुनिवरा रत्नत्रयाराधकाः,
पञ्चैते परमेष्ठिनः प्रतिदिनं कुर्वन्तु वो मंगलम् ॥

पहिला पाठ, (णमोकारमन्त्र।)

नमो अरिहंताणं, नमो सिद्धाणं, नमो आयरियाणं,
नमो उवज्झायाणं, नमो लोए सव्वसाहूणं ॥
एसो पंचनमुक्कारो, सव्वपावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ॥

संस्कृत छाया।

नमोऽर्हद्भ्यः, नमः सिद्धेभ्यः, नम आचार्येभ्यः,
नम उपाध्यायेभ्यः, नमो लोके सर्वसाधुभ्यः।
*एष पञ्चनमस्कारः, सर्वपापप्रणाशनः।
मंगलानां च सर्वेषां, प्रथमं भवति मंगलम् ॥

अर्थ—अरिहन्तोंको नमस्कार हो, सिद्धोंको नमस्कार हो, आचार्योंको नमस्कार हो, उपाध्यायोंको नमस्कार हो और लोकमें विद्यमान सर्व साधुओंको नमस्कार हो।

---

* यह अनुष्टुब श्लोक णमोकारमन्त्रके माहात्म्यका है। यह स्थानकवासी संप्रदायमें बोला नहीं जाता। यदि बोला जाय तो कुछ हानि नहीं है।

चाहिये, अथवा जिनको गुरुगमसे आत्मस्वरूप प्रतीत हो गया हो, उन्हें आत्माका ध्यान करना चाहिये। अन्तमें चित्तका निरोध करनेकेलिये आनुपूर्वीका पाठ या माला फेरना चाहिये।

(२१) सामायिक और योगकी एकता।

पूर्व कथनसे यह बात समझमें आगई होगी कि अष्टाङ्ग योग के यम, नियम, आसन और प्रत्याहार, ये चार अङ्ग सामायिकके छठे पाठ तक आजाते हैं। हाँ! योगमें यह बात नहीं आती कि उसमें यम कितना पालना चाहिये। सामायिकमें यह बात विशद रूपसे स्पष्ट करदी गई है। यथा—"दुविहं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि मनसा वयसा कायसा"—सम्पूर्ण सावद्य (सपाप) योग दो करण (कृत और कारित) और तीन योग (मन, वचन और काय) से न करूँगा और न कराऊँगा।

प्राणायामकी क्रिया यदि गुरुगमके बिना की जाय तो किसी समय उससे हानि पहुँचनेकी सम्भावना है। इसलिये सामायिकमें यह नहीं ली गई है। यदि किसीको गुरुगमसे उसका यथोचित अभ्यास होगया हो तो वह उसे सामायिकमें कर सकता है। इसमे कुछ भी आपत्ति नहीं है। प्रत्याहारके बाद धारणा, ध्यान और समाधि है। सामायिकमें जो धर्मध्यान बतलाया गया है, उसमें इनका समावेश हो जाता है। इस तरह सामायिक और योग क्रिया अधिकांशमे आपसमें मिलती-जुलती ही हैं और बड़े रूप तो दोनोंका एक ही है, इसमें कुछ सन्देह नहीं है। यह बात पाठकोंकी समझमें स्पष्टरूपसे आगई होगी।

प्रथम भाग समाप्त।

२—अरहन्त—अ = नहीं है + रह = एकान्त प्रदेश + अन्त = मध्यप्रदेश, जिसके एकान्त या मध्यप्रदेश नहीं हैं—जिसके ज्ञानसे कोई भी स्थान रहित नहीं है अर्थात् जो सर्वज्ञ है।

३—अरुहन्त—अ = नहीं है—रुह = उगना जिनको अर्थात् जिनके जन्म-मरणका कारण नष्ट हो जानेसे भव उत्पन्न नहीं होता।

४—अर्हत्—पूजार्थक 'अर्ह' धातुसे 'अन्' प्रत्यय करनेपर 'अर्हत्' शब्द निष्पन्न होता है। 'अर्हन्ति जना यम्' यह इसकी व्युत्पत्ति होती है। तीनों लोकोके लोग जिसे पूजते हैं, यह इसका अर्थ होता है।

५—अरहा—अ = नहीं + रह = रहस्य जिसके अर्थात् जिससे कोई बात छिपी नहीं है।

अरिहन्तके बारह गुण।

आठ प्रातिहार्य और चार अतिशय मिलकर अरिहन्तके बारह गुण गिने जाते हैं। प्रतिहारी अर्थात् सेवकके रूपमें रक्षा करनेवाले और महिमा बढानेवाले दैवी पदार्थ। ये प्रातिहार्य अतिशय सुन्दर होते हैं जो दूसरोंका मन देखते ही हरण करते हैं। वे ये हैं—

अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टिः दिव्यध्वनिश्चामरमासनं च।
भामण्डलं दुन्दुभिरातपत्रं, सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम्।५।

अर्थात्—(१) अशोक वृक्ष, (२) देवों द्वारा रचे गये पुष्पोंकी वृष्टि, (३) दिव्यध्वनि, (४) चमर, (५) सिंहासन, (६) भामण्डल, (७) मधुर आवाज करनेवाला वादित्र और (८) तीन छत्र। जिनेश्वरके ये आठ प्रातिहार्य हैं।

अतिशय अर्थात् उत्कृष्टता प्रदर्शित करनेवाले गुण। वे चार प्रकारके हैं। (१) अपायापगमातिशय, (२) ज्ञानातिशय, (३) पूजातिशय और (४) वचनातिशय।

इन पाँचोंको किया गया नमस्कार संपूर्ण पापोंका सर्वथा नाश करनेवाला है और सब मङ्गलोंमें आदि मंगल है।

विवेचन।

उपर्युक्त पाँचों परमेष्ठी महामन्त्ररूप हैं, मंगलरूप हैं और शिवदायक हैं तथा उनका प्रभाव अतुलनीय है। इस मन्त्रकी महिमा के विषयमें पहले कहा जा चुका है। परम—अर्थात् उत्कृष्ट, इष्टी अर्थात् ऐश्वर्यशाली अर्थात् उत्कृष्ट ऐश्वर्यको धारण करनेवाले अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु, ये पाँच परमेष्ठी हैं। इनको नमस्कार करना चाहिये। वह नमस्कार दो प्रकारका है—एक द्रव्य नमस्कार और दूसरा भावनमस्कार। दो हाथ, दो पैर और एक मस्तक, शरीरके इन पाँच अङ्गोंसे उपयोगशून्य होते हुए नमस्कार करना, द्रव्यनमस्कार है। और उन्हीं पाँच अङ्गोंसे मन सहित—विशुद्ध निर्मल मनके उपयोगसहित नमस्कार करना, भाव नमस्कार है।

अरिहन्तके नामान्तर और उनके अर्थ।

अरिहन्त, अरहन्त, अरुहन्त, अर्हत्, अरहा ये पाँच नाम—पर्यायवाचक शब्द अरिहन्तके हैं।

१—अरिहन्त—अरि = शत्रु + हन्त = हननेवाला अर्थात् आठ कर्मरूप शत्रुओंको हननेवाला।

> अरहंति वंदणं नमसणाइ, अरहंति पूयसक्कारं।
> सिद्धिगमणं च अरहा, अरहंता तेण वुच्चंति॥

अर्थात्—जो वन्दन नमस्कार आदिके योग्य है, पूजा-सत्कार करने योग्य है, और जो सिद्धि पद पानेके योग्य है, वह 'अरिहन्त' कहलाता है।

पूजा, श्लाघा वन्दनादि करते हैं और हमेशा करनेकी इच्छा रखते हैं, वह पूजातिशय है।

(४) वचनातिशय—पैंतीस गुणोंसे युक्त जिनेश्वरकी वाणी को देव, मनुष्य और तिर्यञ्च अपनी-अपनी भाषामें समझ लेनेके बाद अपना-अपना जो जातीय—स्वाभाविक वैर है, उसे छोड़ देते हैं, यह भगवान्का वचनातिशय है।

इस तरह आठ प्रातिहार्य और चार अतिशय, ये बारह गुण अरिहन्तके हुए।

सिद्धका स्वरूप और उनके आठ गुण।

अन्तिम साध्य जो मोक्षपद उसको जिन्होंने साधा—सिद्ध किया, वे सिद्ध हैं। वे आठ कर्मोंके बन्धनोसे रहित होते हैं। आत्माका शुद्ध स्वरूप जो अखण्ड आनन्द, अनन्त प्रकाश और अनन्त आत्मिक सुख है, उसके वे भोक्ता होते हैं। ज्ञान दर्शन आदि अनन्त स्वगुणोंसे सहित होते हैं और उनकी स्थिति सादि-अनन्त होती है। क्योंकि जिस समयसे उन्हें 'सिद्ध' पद प्राप्त होता है उस समयसे उस पदकी शुरूआत गिनी जाती है इसलिये उनकी वह अवस्था सादि है और मोक्ष हो जानेके बाद जन्म-मरणका अभाव हो जाता है और अनन्तकाल तक उनकी स्थितिमें कोई फेर-फार नहीं होता, इसलिये उनकी वह स्थिति अनन्त होती है। सिद्ध भगवान्के आठ कर्म नष्ट हो जाते हैं और उनके अभावमें उनके आठ गुण प्रगट हो जाते हैं। वह इस प्रकार हैं—

(१) ज्ञानावरणीय कर्मके क्षयसे अनन्त अक्षय ज्ञान गुण।
(२) दर्शनावरणीय " " " " दर्शन गुण।
(२) अन्तराय " " " " आत्मिकशक्ति।
(४) मोहनीय " " " " क्षायिक सम्यक्त्व।
(५) ना " " " " अमूर्तत्व-रूप-रस-

(१) अपाय = उपद्रव, अपगम = नाश अर्थात् संकटका नाश करनेवाला अतिशय। उपद्रव दो प्रकारके होते हैं—(१) स्वाश्रयी और (२) पराश्रयी। अपने आश्रित रहनेवाले उपद्रव स्वाश्रयी उपद्रव हैं। ये भी दो प्रकारके होते हैं—(१) द्रव्य उपद्रव और (२) भाव उपद्रव। शारीरिक और मानसिक व्याधियाँ द्रव्य उपद्रव हैं और अन्तरङ्ग आत्माके साथ लगे हुए अठारह प्रकारके कर्म भाव उपद्रव हैं। वे ये हैं—

> अन्तरायो दानलाभ,-वीर्यभोगोपभोगगाः।
> हासो रत्यरतिर्भीतिः, जुगुप्सा शोक एव च ॥
> कामो मिथ्यात्वमज्ञानं, निद्रा चाविरतिस्तथा।
> रागद्वेषौ प्रभुस्त्यक्ता, दोषा अष्टादशामी च ॥

अर्थात्—(१) दानान्तराय, (२) लाभान्तराय, (३) भोगान्तराय, (४) उपभोगान्तराय, (५) वीर्यान्तराय, (६) हास्य, (७) रति, (८) अरति, (९) भय, (१०) ग्लानि, (११) शोक, (१२) काम, (१३) मिथ्यात्व, (१४) अज्ञान, (१५) निद्रा, (१६) अविरति, (१७) राग और (१८) द्वेष। इन अठारह दोषोंसे जिनेश्वर प्रभु मुक्त होते हैं। ये स्वाश्रयी अपायापगम अतिशय हैं।

पराश्रयी अपायापगम अतिशय वे हैं जो प्रभुके प्रतापसे उपद्रव नष्ट हो जाते हैं। अर्थात् भगवान् जिस प्रदेशमें जाते हैं—विचरते हैं, उस प्रदेशके रोग, शोक, मृगी, महामारी, स्वचक्र, और परचक्रका भय आदि टल जाते हैं।

(२) ज्ञानातिशय—तीर्थंकर भगवान् लोकालोकका स्वरूप जो सब प्रकारसे जान रहे हैं, वह ज्ञानातिशय है।

(३) पूजातिशय—इन्द्रादिदेव तथा चक्रवर्ती सरीखे व्यक्ति, हमेशा पूजने योग्य समझते हुये तीर्थंकरदेवकी जो सेवा, भक्ति,

पूर्वक चलाता है और जो वीतराग-प्ररूपित शुद्ध मार्गकी ओर निरन्तर गमन करता है, वह 'आचार्य' कहलाता है। उसके छत्तीस गुण बतलाये गये हैं, जो कि इस प्रकार हैं—

(१) आचारसपत्ति, (२) श्रुतसपत्ति, (३) शरीरसपत्ति, (४) वचनसंपत्ति, (५) व्याख्यानसपत्ति, (६) मतिसंपत्ति, (७) प्रयोगसंपत्ति और (८) संग्रहसपत्ति, ये आठ संपत्तिया, दश प्रकारके यति धर्मोंमें निपुण होना—(१) क्षमा, (२) मुक्ति (लोभका अभाव), (३) आर्जव, (४) मार्दव, (५) लाघव (बाह्याभ्यन्तर उपाधियोंसे हल्कापना), (६) सत्य, (७) शौच, (८) संयम, (९) तप और (१०) ब्रह्मचर्य, चार विनय—(१) आचारविनय, (२) श्रुतविनय, (३) विक्षेपणाविनय और (४) दोषपरिघातविनय, और चौदह प्रतिरूपादि गुण—(१) प्रतिरूपता, (२) तेजस्विता, (३) स्वपर-शास्त्रोंकी पारंगतता, (४) वचनोंकी मधुरता, (५) गम्भीरता, (६) धैर्य, (७) सौम्यता, (८) स्मरणशक्ति, (९) समयज्ञता, (१०) विशालबुद्धिसंपन्नता, (११) गुणग्राहक (हंससम) मतिसम्पन्नता, (१२) अखण्ड-उद्यमशीलता, (१३) आश्रितोंका हितचिन्तकपना और (१४) प्रशान्त हृदयशालीनता। इस तरह ८ संपत्ति + १० धर्म + ४ विनय + और १४ प्रतिरूपतादि, ये सब मिलाकर छत्तीस गुण 'आचार्य' के होते हैं।

'उपाध्याय' शब्दका अर्थ उनके पचीस गुण।

'उप—समीपे आगतान् अध्यापयतीति उपाध्यायः' अर्थात् जो समीपमें आये हुए साधुओंको शास्त्राभ्यास कराता है, वह 'उपाध्याय' कहलाता है। वह पचीस गुणोंकर युक्त होता है*—

---

* 'सरल' शब्दसे गुणीका बोध होता है और 'सरलता' शब्दसे गुणका बोध होता है। लेकिन इस स्थल पर गुणगुणीका अभेद मानकर वर्णन किया गया है।

					गन्धस्पर्शरहितत्व निरञ्जननिराकारपना
(६) गोत्र	"	"	"	"	अगुरुलघुत्व-उच्चता-नीचता रहितत्व, इसके भारीपनेका अभाव।
(७) वेदनीय	"	"	"	"	अव्याबाधनिराबाध सुख।
(८) आयुष्य	"	"	"	"	अचल स्थिति।

आठ कर्मोंके नष्ट हो जानेसे सिद्धोंमें जो आठ गुण प्रकट हुए हैं, इसका यह मतलब नहीं है कि उनमें ये गुण थे ही नहीं—नये ही प्रकट हुए हैं। नहीं। ये गुण उनमें पहलेसे—हमेशासे विद्यमान थे किन्तु कर्मोंके लेपसे ढके हुए थे—आच्छादनसे प्रकट नहीं होते थे। इन आठ गुणोंके पेटे उसमें अनन्त अनन्त गुण और समाये हुए हैं।

'आचार्य' शब्दका अर्थ और उनके छत्तीस गुण।

आत्म-कल्याणके अभिलाषी, मुख्य रूपसे दोको नमस्कार करते हैं—देवको और गुरुको। अरिहन्त और सिद्धोंका देवोंमें और आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधुओंका गुरुओंमें अन्तर्भाव होता है। आचार्य उपाध्याय और साधु, ये तीनों 'संयति' पुरुष कहलाते हैं। "सं—सम्यक्प्रकारेण आत्मनि स्थितान् विषयान् यच्छति इति संयति" अर्थात् आत्मामें स्थित विषयोंको भले प्रकार वशमें करके जो विजय प्राप्त करते हैं, वे 'संयति' कहलाते हैं।

आ=मर्यादापूर्वक, चर्यते च=जो चलता है—विचरता है अर्थात् जिसका विचरना—चारित्रस्थिति, जिनेश्वर द्वारा निश्चित मर्यादापूर्वक होती है तथा जो अपने अनुयायियोंको भी अधिकार

९ अनुत्तरोपपादिकदशाङ्ग	९ कप्पवडंसिया
१० प्रश्नव्याकरणाङ्ग	१० पुप्फिया
११ विपाकसूत्राङ्ग	११ पुप्फचूलिया
	१२ वन्निदसाग

इनके अतिरिक्त चार मूलशास्त्र और चार छेदशास्त्र भी हैं।

चार मूल सूत्र—नन्दी, अनुयोगद्वार, दशवैकालिक और उत्तराध्ययन।

चार छेद सूत्र—व्यवहार, वृहत्कल्प, निशीथ और दशाश्रु त-स्कन्ध। ये परंपरासे माने हुये चले आरहे हैं।

इनके भी अतिरिक्त कितने ही शास्त्रोंके नाम नन्दीसूत्रमें आये हैं। नन्दी सूत्रमे शास्त्रोंके दूसरी तरहसे भी भेद किये गये हैं। उसमें शास्त्रोंके मुख्य दो भेद इस तरह कहे हैं—अङ्गप्रविष्ट और अङ्गबाह्य। अङ्ग प्रविष्टमें ग्यारह अङ्ग और अङ्गबाह्यमें आवश्यक तथा तद्व्यतिरिक्त लिये गये हैं। आवश्यकके सामायिक आदि छह अङ्ग हैं। और तद्व्यतिरिक्तके दो भेद हैं—कालिक और उत्कालिक। कालिकमें तीस सूत्र हैं और उत्कालिकमें उन्तीस। दोनोंके मिलाकर उनसठ सूत्र होते हैं। इनमें एक आवश्यकको और मिला देनेसे साठ सूत्र अङ्गबाह्यके हो जाते हैं। उन उनसठ सूत्रोंमेंसे अनेक सूत्र आजकल उपलब्ध नहीं हैं। इसलिये उनके नाम यहाँ नहीं दिये गये हैं। इसके अतिरिक्त अनेक अङ्ग उपाङ्गोंमें आ भी जाते हैं।

चरणसत्तरी।

वय समणधम्म संजम, वेयावच्चं च बंभगुत्तीओ।
नाणाइतियं तव कोह, निग्गहाइंइ चरणमेयं॥

अर्थात्—पाँच महाव्रत, दश श्रवणधर्म, सत्रह संयम, दस वैयावृत्य, नौ ब्रह्मचर्य्य, तीन ज्ञान-दर्शन-चरित्र, बारह तप और चार कषायोंका निग्रह। इस तरह चरण—चरित्रके सत्तर भेद हैं।

(१) समयसूचक, (२) प्रशान्त, (३) विवेकी, (४) क्षमावान्, (५) सहनशील, (६) परीक्षक, (७) सुशील, (८) प्रेमालु (९) निष्पक्ष, (१०) सौम्य, (११) उद्यमी, (१२) सुभग, (१३) सरल, (१४) विशालदृष्टि, (१५) सत्यानुप्रेक्षी, (१६) जितेन्द्रिय, (१७) परमार्थी, (१८) निस्स्वार्थ, (१९) उदार, (२०) कुशाग्रबुद्धि, (२१) शास्त्रज्ञ, (२२) लोकरीतिभिज्ञ, (२३) निरशङ्कहृदय, (२४) प्रसन्न चित्त और (२५) परममुमुक्षु।

शास्त्रमें दूसरे तरीकेसे भी उपाध्यायके पचीस गुण बतलाये हैं। वे इस तरह हैं—

जैनशास्त्रोंका समावेश मुख्यतया बारह अङ्ग और बारह उपाङ्गोंमें किया गया है। उनमेंसे दृष्टिवाद नामका बारहवाँ अङ्ग है। उसके आजकल एक श्रुतस्कन्ध और चौदह अध्ययन (चौदह पूर्व) विच्छिन्न हो गये हैं। इसलिये बाकी बचे ग्यारह अङ्ग और बारह उपाङ्गोंको जो पढ़े-पढ़ावे तथा चरणसत्तरी और करणसत्तरीको पाले, वह पचीस गुणयुक्त उपाध्याय होता है। अर्थात् ११ अङ्ग, १२ उपाङ्ग और २ सत्तरियाँ, इस तरह भी उपाध्यायके पचीस गुण शास्त्रोंमें बतलाये गये हैं।

ग्यारह अङ्ग	बारह उपाङ्ग
१ आचाराङ्ग	१ उववाई।
२ सूत्रकृताङ्ग	२ रायपसेणी
३ स्थानाङ्ग	३ जीवाभिगम
४ समवायाङ्ग	४ पन्नवणा
५ व्याख्याप्रज्ञप्त्यङ्ग	५ जंबुदीवपन्नत्ति
६ ज्ञातृधर्मकथाङ्ग	६ चंदपन्नत्ति
७ उपासकदशाङ्ग	७ सूरपन्नत्ति
८ अन्तकृद्दशाङ्ग	८ कप्पिया

चार कषायोंका जय, परीषहसहन, संयमरक्तता और मरणसमयमें आत्मजागृति।

इस तरह १२ अरिहन्तके, ८ सिद्धके, ३६ आचार्यके, २५ उपाध्यायके और २७ साधुके, कुल मिलाकर १०८ गुण पञ्च परमेष्ठीके होते हैं।

[प्रथम पाठ समाप्त]

दूसरा पाठ (वंदना)

तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं वंदामि नमंस्सामि सक्का-रेमि सम्माणेमि कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवास्सामि ॥

संस्कृत छाया।

त्रिः(कृत्वा) आदक्षिणं प्रदक्षिणं वन्दे नमामि सत्करोमि स-न्मनोमि (सन्मानयामि) कल्याणं मङ्गलं देवकं चैत्यं पर्युपासे ॥

अर्थ—

* तिक्खुत्तो—तीनवार।
आयाहिणं—दाहिनी ओरसे आरम्भ करके दाहिनी ओर तक।
पयाहिणं—प्रदक्षिणा करके।

---

* वन्दन करनेवालोंमेंसे अधिकांश लोग अपने हाथसे अपने ही मुखका आवर्तन करके वन्दन करते हैं। असलमें जिनका वन्दन करना है, ऐसे गुर्वादिकके मुखका, दाहिनी ओरसे तीन वार अपने दोनों हाथोंको जोड़कर प्रदक्षिणा (आवर्तन) करके वन्दन करना चाहिये। जैसे कि आरती उतारनेवाले मूर्तिका आवर्तन करते हैं, अपने मस्तकका नहीं। उसी तरह ये तीन पद आवर्तन करने केलिये हैं, बोलनेकेलिये नहीं। बोलना 'वंदामि' से चाहिये।

४

करणसत्तरी ।

पिंड विसोही समिइ, भावणा पडिमा य इंदियनिरोहो।
पडिलेहण गुत्तीओ, अभिग्गह चेव करणं तु ॥७॥

अर्थात्—चार पिण्डशुद्धि, पाँच समिति, बारह भावना, बारह प्रतिमा, पाँच इन्द्रियनिरोध, पचीस प्रतिलेखना, तीन गुप्ति और चार अभिग्रह। इस तरह करण अर्थात् प्रयोजन पड़नेपर की जानेवाली क्रियाओंके सत्तर भेद होते हैं।

इस सम्बन्धकी विशेष बातें अन्य शास्त्रोंसे जाननी चाहिये।

'साधु' शब्दका अर्थ और उसके सत्ताईस गुण।

'आत्मकार्यं परप्रेयम्च साधयतीति साधुः'—जो आत्मकार्यके साथ औरोंके भी हितका साधन करता है, वह साधु है। जो साधु संयमको धारण कर, इन्द्रियोंका दमन कर निर्वाण—मोक्षपदको साधता है, वह जनसमाजके द्वारा वन्दनीय है। उसके सत्ताईस गुण होते हैं। जो कि इस प्रकार हैं—

(१) दया, (२) सत्य, (३) अस्तेय, (४) ब्रह्मचर्य, (५) अपरिग्रह, (६) क्रोधाभाव, (७) निर्मानता, (८) निष्कपटता, (९) निर्लोभता, (१०) सहनशीलता, (११) निष्पक्षपातता, (१२) परोपकार, (१३) तपश्चर्या, (१४) प्रशान्तता, (१५) जितेन्द्रियता, (१६) परम मुमुक्षुता, (१७) प्रसन्न दृष्टि, (१८) सौम्यता, (१९) नम्रता, (२०) गुरुभक्ति, (२१) विवेक, (२२) वैराग्यरक्तता, (२३) तत्त्वानुप्रेक्षा, (२४) ज्ञानाभिलाषा, (२५) योगनिष्ठता (मनवचनकायका नियमन), (२६) संयम रखना और (२७) विशुद्ध आचार।

दूसरी तरहसे भी शास्त्रमें साधुके सत्ताईस गुण बतलाये गये हैं। यथा—पाँच महाव्रत, रात्रिभोजनत्याग, छहकायकी रक्षा, पाँच इन्द्रियनिग्रह, तीन योगोंका—मन-वचन-कायका निरोध,

सिद्धिके उपाय बतलानेवाले अरिहन्त हैं। उसी तरह गुरु हैं। ये भी सत्यासत्य मार्गके समझानेवाले हैं। इसलिये अपने उपकारी गुरुदेवको प्रेमपूर्वक नमस्कार करना योग्य है। यदि वे प्रत्यक्ष हों तो उनके सन्मुख खडे होकर दोनों हाथोकी दसों अँगुलियोको इकट्ठा करके 'वदामि' से पाठोच्चारण करना चाहिये। और यदि वे प्रत्यक्ष न हों तो पूर्वोक्त भावनिद्रासे जगाकर सद्बोधरूप अमृतका पान करानेवाले, अनएव हृदयका विष निकालकर अपूर्व सम्यक्त्व रत्नको यथार्थरूपसे समझाकर प्रगटानेवाले सद्गुरुको अपने मानसिक प्रदेशमें परिकल्पित करके—उनके आन्तर दर्शन करके ऊपरका पाठ बोलकर प्रेमपूर्वक नमस्कार करना चाहिये। यदि कदाचित् यथार्थमें किसीको गुरुरूपसे स्वीकार करनेका प्रसङ्ग न आया हो तो नीचे लिखे अनुसार छत्तीस गुणयुक्त जो साधु पुरुष विचरता हो उसीको गुरु तुल्य समझकर नमस्कार करना चाहिये।

पंचिंदिअसंवरणो, तह नवविहबंभचेरगुत्तिधरो।
चउविहकसायमुक्को, इय अट्ठारस गुणेहिं संजुत्तो॥
पंचमहव्वयजुत्तो, पंचविहायारपालणसमत्थो।
पंचसमिओ तिगुत्तो, छत्तीसगुणो गुरू मज्झ॥

पंचिंदियसंवरणो—पाँचों इन्द्रियोंके विषयविकारोंका निरोध करनेवाले, तह—तथा, नवविहबंभचेरगुत्तिधरो—नौ प्रकारकी ब्रह्मचर्यकी गुप्तियोंको धारण करनेवाले, चउविहकसायमुक्को—चारों प्रकारकी कषायोंसे मुक्त, इय अट्ठारसगुणेहिं संजुत्तो—इस प्रकार अठारह गुणोंसे युक्त, पंचमहव्वयजुत्तो—पाँच महाव्रतोंसे युक्त पंचविहायारपालणसमत्थो—पाँच प्रकारके आचार पालनेमें समर्थ, पंचसमिओ तिगुत्तो—पाँच समितियों और तीन गुप्तियोंसे युक्त, छत्तीसगुणो गुरू मज्झ—(१८ + १८ = ३६) इस प्रकार छत्तीस गुणोंसे जो युक्त हो वही मेरा गुरु है।

वंदामि—स्तुति अथवा स्तवन करता हूँ (मनसे)
नमंस्सामि—नमस्कार करता हूँ (पञ्चाङ्ग नमस्कार)
सक्कारेमि—सत्कार करता हूँ।
सम्माणेमि—सन्मान करता हूँ (किस लिये ?)
कल्लाणं—हे स्वामिन्! आप कल्याण स्वरूप हो।
मंगलं—आप मंगल स्वरूप हो।
देवयं—आप धर्मदेव स्वरूप हो।
चेइयं—आप ज्ञानरूप हो +।

पज्जुवासामि—हे गुरो! आपकी सेवा करता हूँ (मन-वचन कायसे)

विवेचन।

सामायिक करनेके पहले सद्गुरुको सहृदय वन्दन करके उनकी कृपा प्राप्त करनी आवश्यक है। गुरुओंके माहात्म्यको प्रत्येक दर्शनने स्वीकार किया है। क्योंकि गुरुकी कृपाके बिना किसी भी कार्य की सिद्धि नहीं होती। अमापि कालसे भूले हुए मार्गको बतलानेवाले गुरु ही हैं। कहा भी है—

> भेद बिना भटकत फिरे, गुरु बतावे ठाम।
> चौरासी लख फिर गये, पाव कोस पर गाम॥
> बिना नयन पावे नहीं, बिना नयन की बात।
> सेवे सद्गुरु चरणको, सो पावे साक्षात्॥

इस इस तरहके अनेक गद्यात्मक और पद्यात्मक प्रमाणोंसे सद्गुरुओंकी महिमा अनेक स्थलोंपर वर्णनकी गई है। नमस्कारके पहले पाठमें अरहन्तोंकी अपेक्षा सिद्धोंको बड़ा होनेपर भी पहले 'नमो अरिहन्ताणं' पद है। इसका कारण यही है कि सिद्धि और

+ 'रायपसेणी'की टीकामें 'चेइयं' शब्दका अर्थ प्रज्ञावारक भी लिखा है।

आहारको नहीं करना, (८) अति प्रमाणसे आहारका नहीं करना (९) और शरीरको शृङ्गारयुक्त नहीं करना।

चार कषाय—कष्=संसार, आय=लाभ। अर्थात् संसार को बढ़ानेवाली चार कषाय हैं—(१) क्रोध, (२) मान, (३) माया और (४) लोभ।

पाँच महाव्रत—(१) सर्व प्राणातिपात विरमण अर्थात् सर्व प्रकारके प्राणियोंके प्राणोंके अतिपात करनेसे अलग रहना, (२) सर्व मृषावाद विरमण—अर्थात् किसी भी प्रकारका असत्य नहीं बोलना, (३) सर्व अदत्तादान विरमण—अर्थात् किसीकी कोई भी वस्तु बिना दी हुई न लेना, (४) सर्व मैथुन विरमण—अर्थात् किसी भी प्रकारका अब्रह्मचर्य पालन न करना और (५) सर्व परिग्रह विरमण—अर्थात् किसी भी प्रकारका परिग्रह न रखना।

पाच महाव्रतोंके हरएक नामके पहले 'सर्व' शब्द जुड़ा हुआ है, जो यहापर 'सर्वथा' का अर्थ रखता है। इसका तात्पर्य्य यह है कि 'मन, वचन और कायसे न करूं, न कराऊं और न अनुमोदन करूँ' इस तरहसे जो नव प्रकारसे पाले जायँ वे महाव्रत और उनमें छह प्रकारसे पाले जायँ वे अणुव्रत हैं।

पाँच आचार—(१) ज्ञानाचार, (२) दर्शनाचार. (३) चारित्राचार, (४) तप आचार और (५) वीर्य्याचार। इन पाच गुणोंको स्वय स्वीकार करे, दूसरोंको स्वीकार करावे, उनकी साधना करे-करावे तथा उसके लिये अपनी शक्तिके अनुसार शुद्ध प्रयत्न करे।

पांच समिति—सम्=भले प्रकार+इ=चलना + ति = भाव अर्थमें यह प्रत्यय होता है। अर्थात् शास्त्रोक्त मर्यादापूर्वक प्रवर्तन करना सो समिति है। वे पांच हैं। यथा—

१ ईर्य्यासमिति—ईर्या=गमन करना। अर्थात् चार हाथ प्रमाण चारों ओरका ख्याल रखते हुए उपयोगपूर्वक—विवेक सहित गमन करना।

इन छत्तीस गुणोंका विशेष विवेचन।

श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय ये पाँच इन्द्रियाँ हैं। इनके २१ विषय हैं और २५२ विकार हैं। वे इस प्रकार हैं—

श्रोत्रेन्द्रिय—शब्द, १ विषय।
चक्षुरिन्द्रिय—सफेद, काला, नीला, पीला और हरा, ५ विषय
घ्राणेन्द्रिय—सुगन्ध और दुर्गन्ध, २ विषय।
रसेन्द्रिय—तीखा, कडुआ, कषैला, खट्टा और मीठा, ५ विषय
स्पर्शेन्द्रिय—भारी, हल्का, कोमल, खरखरा, उष्ण, शीत, चिकना और रूखा, ८ विषय।

इस तरह ये २१ विषय हैं। इनके सचित्त, अचित्त और मिश्र इन तीनसे गुणा करनेपर ६३ होते हैं। इनको मनोज्ञ और अमनोज्ञ, इन दोसे गुणा करनेपर १२६ होते हैं। फिर इनको भी राग और द्वेष इन दोसे गुणा करनेपर २५२ भेद विकारोंके होते हैं।

ब्रह्मचर्य की नौ गुप्तियाँ—(१) स्त्री पशु और नपुंसक जहाँ रहते हों वहाँ नहीं रहना* (२) विषयोत्पादक कथा-वार्ता का न करना, (३) स्त्री के उठजानेके बाद दो घड़ी तक उस आसनपर न बैठना, (४) बुद्धिपूर्वक स्त्रियोंके अङ्गोपाङ्गोंका न देखना, (५) स्त्री-पुरुष जहाँ क्रीड़ा करते हों, वहाँपर यदि स्त्री रहती हो तो वहाँ पर बिना भीति वगैरह स्वल्प अन्तरके नहीं रहना, (६) पूर्वमें भोगे हुए भोगोंका स्मरण नहीं करना (७) नित्यप्रति सरस

* पुरुषोंको जिस तरह स्त्री पशु और नपुंसक जहाँ हों वहां नहीं रहना चाहिये। स्त्रीको उसी तरह पुरुष, पशु और नपुंसक जहाँ हों वहां नहीं रहना चाहिये। इसी तरह और जगह भी समझ लैना चाहिये।

इस तरह पाच इन्द्रियोंके २१ विषय और २५२ विकारोंको तथा चार कषायोंका निरोध करनेवाले, ब्रह्मचर्यकी नौ गुप्तियों, पाच महाव्रत, पांच आचार, पाच समिति और तीन गुप्ति, इस तरह छत्तीस गुणवाला साधु मेरा गुरु है। इस तरह बोलना और विचारना चाहिये।

[दूसरा पाठ समाप्त]

तीसरा पाठ (इरियावहि)

इच्छामि पडिक्कमिउं, इरियावहियाए विराहणाए, गमणागमणे, पाणक्कमणे, बीयक्कमणे, हरियक्कमणे, उस्साउत्तिंग पणगदग, मट्टि, मक्कडा, संताणा, संक्कमणे जे मे जीवा विराहिया, एगेंदिया, बेइंदिया, तेइंदिया, चउरिंदिया, पंचिंदिया, अभिहया, वत्तिया, लेसिया, संघाइया, संघट्टिया, परियाविया, किलामिया, उद्दविया, ठाणाओ ठाणं संकामिया, जीवियाओ ववरोविया, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ॥

सस्कृत छाया।

इच्छामि प्रतिक्रमितुं ईर्यापथिक्या विराधनया, गमनागमने, प्राण्याक्रमणे, बीजाक्रमणे, हरिताक्रमणे, अवश्यायोत्तिङ्गपनकोदकमृत्तिकामर्कटसंतानसंक्रमणे, ये मया जीवाः विराधिताः, एकेन्द्रियाः द्वीन्द्रियाः त्रीन्द्रियाः चतुरिन्द्रियाः पञ्चेन्द्रियाः, अभिहताः वर्त्तिताः श्लेषिताः संघातिताः संघट्टिताः परितापिताः क्लामिताः उपद्रविताः स्थानात्स्थानं

२ भाषासमिति—साधुधाके योग्य, पापरहित मधुर और निर्दोष धर्मवाली भाषा बोलना।

३ एषणासमिति—आहारादि कोई भी वस्तु ब्यालीस दोषोंको टालकर लेना।

४ आदान निक्षेपण समिति—आदान=लेना + निक्षेपण=रखना। अर्थात् रजोहरण, पात्र, वस्त्र पुस्तक आदि वस्तु देख भाल कर उपयोग सहित उठाना-धरना।

५ उत्सर्ग समिति—मल, मूत्र, मैल, खकार (कफ) आदि छोड़ते समय विवेक रखना जिससे कि किसी जीवको दुःख न हो तथा किसीके मनमें घृणा न उपजे।

तीन गुप्ति—'गुप् रक्षणे' धातुसे 'गुप्ति' शब्द निष्पन्न होता है। इसका अर्थ है—गुप्त रखना—बचाना—रोकना। अर्थात् मन, वचन और काय, इन तीनोंको पापकार्मसे बचाते रहना और धर्म-कार्यमें लगाना।

१ मनोगुप्ति—मनको दुष्ट संकल्प, आर्तध्यान और रौद्रध्यान आदि कर्मबन्धनके क्लिष्ट-विचारोंसे हटाकर पवित्र संकल्प, शुभ ध्यान आदि पापमोचनके विचारोंमें लगाना।

२—वचनगुप्ति—यदि बोलनेकी आवश्यकता आन पड़े तो निरवद्य, पवित्र, निर्दम्भनीय और जैसे श्वासोच्छ्वास आठ पर्तकी मुहपत्ति द्वारा गल करके निकलता है, तद्वत् वचन भी आठ पर्तकी मुहपत्तिरूप विवेक विचार से गलकरके ही बोलना चाहिये नहीं तो मौन रखना चाहिये।

३ कायगुप्ति—उठते-बैठते आदि शारीरिक कोई भी क्रिया करते हुये उपयोग छोड़ न देना।

इन पांच समिति और तीन गुप्तियोंका नाम शास्त्रमें 'आठ प्रवचनमातृका' कहा गया है। ये नवीन कर्मोंके रोकने और पुराने कर्मोंके खिपानकेलिये उत्तम काम करती हैं।

इस तरह पाच इन्द्रियोंके २१ विषय और २५२ विकारोंको तथा चार कषायोंका निरोध करनेवाले, ब्रह्मचर्यकी नौ गुप्तियों, पाच महाव्रत, पाच आचार, पाच समिति और तीन गुप्ति, इस तरह छत्तीस गुणवाला साधु मेरा गुरु है। इस तरह बोलना और विचारना चाहिये।

[दूसरा पाठ समाप्त]

तीसरा पाठ (इरियावहि)

इच्छामि पडिक्कमिउं, इरियावहियाए विराहणाए, गमणागमणे, पाणक्कमणे, बीयक्कमणे, हरियक्कमणे, उस्साउत्तिंग पणगदग, मट्टि, मक्कडा, संताणा, संक्कमणे जे मे जीवा विराहिया, एगेंदिया, वेइंदिया, तेइंदिया, चउरिंदिया, पंचिंदिया, अभिहया, वत्तिया, लेसिया, संघाइया, संघट्टिया, परियाविया, किलामिया, उद्दविया, ठाणाओ ठाणं संकामिया, जीवियाओ ववरोविया, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ॥

संस्कृत छाया।

इच्छामि प्रतिक्रमितुं ईर्यापथिक्या विराधनया, गमनागमने, प्राण्याक्रमणे, बीजाक्रमणे, हरिताक्रमणे, अवश्यायोत्तिङ्गपनकोदकमृत्तिकामर्कटसंतानसंक्रमणे, ये मया जीवाः विराधिताः, एकेन्द्रियाः द्वीन्द्रियाः त्रीन्द्रियाः चतुरिन्द्रियाः पञ्चेन्द्रियाः, अभिहताः वर्त्तिताः श्लेषिताः संघातिताः संघट्टिताः परितापिताः क्लामिताः उपद्रविताः स्थानात्स्थानं

संक्रामिता जीविताद् व्यपरोपिता, तस्य मिथ्या मम दुष्कृतम्।

अर्थ

इच्छामि—चाहता हूँ।
पडिक्कमिउं—पापसे पीछे हटनेको, निवृत्त होनेको।
इरिया—मार्गमें।
वहियाए—चलते समय।
विराहणाए—किसी भी जीवकी विराधना हुई हो।
गमणागमणे—आते, जाते।
पाणक्कमणे—प्राणीको कुचला हो।
बीयक्कमणे—बीजको कुचला हो।
हरियक्कमणे—हरी वनस्पतिको कुचला हो।
ओसा—ओस।
उत्तिंग—चींटी आदि जीवोंके बिल।
पणग—पाँच रंगका हरा फूल (काई)
दग—सचित्त जल।
मट्टी—सचित्त मिट्टी।
मक्कडा—मकड़ा।
संताणा—मकड़ेका जाल।
संकमणे—कुचला हो।
जे मे जीवा—जो अमुक और कोई भी जीव मैंने।
विराहिया—विराधे हों, दुःखित किये हों।
एगेंदिया—एक इन्द्रियवाले जीव अर्थात् पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति।
बेइन्दिया—दो इन्द्रियवाले जीव अर्थात् लट, शङ्ख, सीप, अलसिया आदि।

तेइन्दिया—तीन इन्द्रियवाले जीव अर्थात् कीड़ी-मकोड़ा, कुन्थुआ, मकरा, डींगर आदि।

चउरिंदिया—चार इन्द्रियवाले जीव अर्थात् मक्खी, मच्छर, डास बिच्छू, भौंरा आदि।

पंचिंदिया—पाँच इन्द्रियवाले जीव अर्थात् जलचर, स्थलचर, नभचर, उरःपरिसर्प, भुजपरिसर्प, मनुष्य, देव और नारकी।

अभिहया—(ऊपर गिनाये गये जीवोंमें सब जीवोंका समावेश हो जाता है) उनको सामनेसे आते हुये रोका हो।

वत्तिया—ढाँका हो।

लेसिया—ज़मीन से घिसा हो—मसला हो।

संघाइया—एक को दूसरे से मिलाकर कष्ट पहुँचाया हो।

संघट्टिया—स्पर्श करके कष्ट पहुँचाया हो।

परियाविया—परिताप—दुःख उपजाया हो।

किलामिया—ग्लानि उत्पन्न की हो।

उद्दविया—त्रास पहुँचाया हो।

ठाणाओ ठाणं—एक जगहसे दूसरी जगह।

संकामिया—संक्रमण किया हो—ले गये हो।

जीवियाओ—जीवन से।

ववरोविया—जुदा किया हो—मार डाला हो।

तस्स मिच्छा मि दुक्कडं—तो तत्सम्बन्धी मेरा पाप मिथ्या होओ।

विवेचन।

इस पाठका मुख्य उद्देश्य यह है कि लगे हुए पापोंका प्रायश्चित करना। किसी भी प्राणीको अपनी किसी भी क्रियाके द्वारा किसी भी प्रकारका कष्ट देना पाप है। इस पापका जहाँ तक हो सके त्याग करना और लगे हुये पापका प्रायश्चित्त करना प्रत्येक

धर्माभिलाषीका आवश्यक काम है। जैन शास्त्रोंमें प्रत्येक धार्मिक क्रियाके करनेसे पहले क्षेत्रविशुद्धि कर लेनी स्वीकार की गई है। क्योंकि हृदयरूप क्षेत्रको शुद्ध किये बिना यदि उसमें धार्मिक पवित्र बीज बोया जाय तो वह उगनेके बदले नष्ट हो जायगा। प्राणाति-पात आदि जो अठारह प्रकारके पाप हैं, उसमेंसे पहले हिंसा पापका प्रायश्चित्त यहाँ बतलाया गया है। इसका कारण यह है कि हिंसाके पापमें शेष सत्रहों पापोंका समावेश हो जाता है। हिंसा के दो भेद हैं। एक स्वहिंसा और दूसरी परहिंसा। परहिंसामें अठारह पापोंके कुछ ही पापोंका समावेश होता है, सबका नहीं। परन्तु स्वहिंसामें सब पापोंका समावेश हो जाता है। इन अठारह पापोंके नाम ये हैं—(१) प्राणातिपात, (२) मृषावाद, (३) अदत्ता-दान, (४) मैथुन, (५) परिग्रह, (६) क्रोध, (७) मान, (८) माया, (९) लोभ, (१०) राग, (११) द्वेष, (१२) क्लेश, (१३) अभ्याख्यान (कलंक लगाना), (१४) पैशून्य (चुगली करना), (१५) पर परिवाद (निन्दा), (१६) रति-अरति (१७) मायामृषा और (१८) मिथ्यादर्शन शल्य (असत्य धर्मरूप शल्य)।

इनमेंसे किसी भी पापके करनेसे स्वहिंसा होती है। मन, वचन और काय इस तरह जघन्य ३ प्रकारकी और उत्कृष्ट १८२४१२० प्रकारकी हिंसा होती है। जोकि इस प्रकार है—

जीव और उसके स्थान भली-भाँति जाननेकेलिये ५६३ भेद शास्त्रमें बतलाये गये हैं। यथा—नरक गतिके १४, तिर्यञ्चगतिके ४८, मनुष्यगतिके ३०३ और देवगतिके १९८। ये सब मिलकर ५६३ होते हैं। इनका विवरण इस प्रकार है—

इस जगह इतना ध्यानमें रखना चाहिये कि जीव जिस समय पैदा होता है, उस समय वह पर्याप्तियों (आहार, शरीर, इन्द्रिय श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन) मेंसे जितनी उसे योग्य होती हैं, उतनी अन्तर्मुहूर्तमें बाँध लेता है। जब तक जीव स्वयोग्य पर्या-

प्तियोंको नहीं बाँध पाता तब तक वह अपर्याप्त कहलाता है। बाँध लेनेके बाद पर्याप्त।

सात नरकके अपर्याप्त और पर्याप्त भेदसे १४ भेद होते हैं। पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय और वायुकायके सूक्ष्म और बादरके भेदसे ८ भेद होते हैं। इनके पर्याप्त और अपर्याप्तके भेदसे १६ भेद होते हैं। वनस्पतिके सूक्ष्म, प्रत्येक और साधारण इस तरह ३ भेद होते हैं और इनके पर्याप्त और अपर्याप्त भेद करनेसे ६ भेद होते हैं। विकलेन्द्रिय—(द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय) इन तीनके भी ऊपरकी तरह ६ भेद होते हैं। जलचर, स्थलचर, उरःपरिसर्प, भुजपरिसर्प और खेचर, इन पाँच प्रकारके तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रियके सम्मूर्च्छिम और गर्भज तथा पर्याप्त और अपर्याप्तके भेदसे २० होते हैं। इस तरह सब मिलकर तिर्यञ्चके ४८ भेद हुए। १५ कर्मभूमि, ३० अकर्मभूमि और ५६ अन्तर्द्वीपके मिलाकर कुल १०१ क्षेत्रके गर्भज मनुष्योंके पर्याप्त और अपर्याप्तके भेदसे २०२ भेद होते हैं। इनमें सम्मूर्च्छिम अपर्याप्तके १०१ भेद और मिला देनेसे ३०३ भेद मनुष्यके होते हैं। १० भवनपति देव, १५ परमाधामी, १० जम्भिका, १६ वानव्यन्तर, १० ज्योतिषी, १२ वैमानिक, ९ ग्रैवेयक, ५ अनुत्तरविमानी, ३ किल्विषक, ९ लौकान्तिक, इन ९९ प्रकारके देवोंके पर्याप्त और अपर्याप्तके भेदसे १९८ भेद होते हैं। इस तरह चारों गतिके ५६३ भेद होते हैं। इनका विशेष विस्तार नवतत्त्वादि ग्रन्थोंसे जानना चाहिये।

उपर्युक्त ५६३ भेदको 'अभिहया' से 'जीवियाओ ववरोविया' तकके दस पदोंसे, जोकि जीवकी विराधनाविषयक हैं, गुणनेपर ५६३० भेद होते हैं। वह विराधना राग और द्वेषसे होती है। अतः २ से गुणा करनेपर ११२६० भेद होते हैं। वह हिंसा मन, वचन और कायसे होती है। इसलिये ३ से गुणा करनेपर ३३७८० भेद होते हैं। पाप करना, कराना और अनुमोदन, इस तरह तीन तरह

से होता है। इसलिये ३ से गुणा करनेपर १०१३४० भेद होते हैं। इनको भी भूत, भविष्यत् और वर्तमानके ३ से गुणा करनेपर ३०४०२० भेद होते हैं। इनको भी अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, गुरु और आत्मा, इनकी साक्षीके ६से गुणा करनेपर १८२४१२० भेद होते हैं। इतने पाप लगे हों तो मिच्छा मि दुक्कडं।

इस तरह पापकी आलोचना कर लेनेके बाद विशेष शुद्धि करनेकेलिये 'तस्स उत्तरी' का नीचे लिखा चौथा पाठ प्रारम्भ किया जाता है।

[तीसरा पाठ समाप्त]

चौथा पाठ (तस्स उत्तरी)

तस्स उत्तरीकरणेणं, पायच्छित्तकरणेणं, विसोहीकरणेणं, विसल्लीकरणेणं, पावाणं, कम्माणं, निग्घायणट्ठाए, ठामि काउस्सग्गं। अन्नत्थ ऊससिएणं, नीससिएणं खासिएणं, छीएणं, जंभाइएणं, उड्डुएणं, वायनिसग्गेणं, भमलिए, पित्तमुच्छाए, सुहुमेहिं अंगसंचालेहिं, सुहुमेहिं खेलसंचालेहिं, सुहुमेहिं दिट्ठिसंचालेहिं, एवमाइएहिं आगारेहिं, अभग्गो, अविराहिओ, हुज्ज मे काउस्सग्गो, जाव अरिहंताणं, भगवंताणं नमोक्कारेणं न पारेमि ताव कायं, ठाणेणं, मोणेणं झाणेणं अप्पाणं वोसिरामि।

संस्कृत छाया।

तस्य उत्तरीकरणेन, प्रायश्चित्तकरणेन, विशुद्धिकरणेन, विशल्यकरणेन, पापानां कर्मणां निर्घातनार्थं करोमि कायो-

त्सर्गम्, अन्यत्र उच्छ्वसितेन, निःश्वसितेन, कासितेन, क्षुतेन, जृम्भितेन, उद्गारितेन, वातनिसर्गेण, भ्रमर्या, पित्त-मूर्च्छया, सूक्ष्मैः अङ्गसंचालैः, सूक्ष्मैः श्लेष्मसंचालैः, सूक्ष्मैः दृष्टिसंचालैः। एवमादिभिः आकारैः अभग्नः अविराधितः भवेत् मम कायोत्सर्गः। यावत् अर्हतां भगवतां नमस्कारेण न पारयामि तावत् कायं, स्थानेन, मौनेन, ध्यानेन आत्मानं व्युत्सृजामि।

अर्थ—

तस्स—उसकी ('इरियावहिया' के पाठसे आलोचना करनेपर भी बचे हुए पापोंवाली आत्माकी)

उत्तरीकरणेणं—विशेष शुद्धि करनेकेलिये।

पायच्छित्तकरणेणं—लगे हुए पापोंका छेदन करनेकेलिये।

विसोहिकरणेणं—आत्माको विशेष निर्मल करनेकेलिये।

विसल्लीकरणेणं—तीन शल्य (कपट, निदान और मिथ्यात्व) से रहित करनेकेलिये।

पावाणं कम्माणं—अठारह प्रकारके पापोंको पैदा करनेवाले आठ कर्मोंका।

निग्घायणट्ठाए—निर्घातन—उच्छेद करनेकेलिये।

ठामि काउस्सग्गं—स्थित होता हूँ कायोत्सर्गके—शारीरिक व्यापार रूप, त्यागकेलिये।

अन्नत्थ—अन्यत्र अर्थात् अगाड़ी जो उच्छ्वासादि आगार कहे जाते हैं, उन्हें छोड़कर शरीरके व्यापारका त्याग करता हूँ। वे आगार ये हैं:—

उससिएणं—श्वास लेना—१

निससिएणं—श्वास छोड़ना—२
खासिएणं—खाँसना—३
छीएणं—छींकना—४
जंभाइएणं—जँभाई लेना—५
उड्डुएणं—डकार लेना—६
वायनिसग्गेणं—अधोमार्गद्वारा वायु निकलना—७
भमलिए—चक्कर आना—८
पित्तमुच्छाए—पित्त-प्रकोपसे मूर्छा आना—९
सुहुमेहिं अंगसंचालेहिं—सूक्ष्म अङ्गोंका हिलना—१०
सुहुमेहिं खेलसंचालेहिं—सूक्ष्म कफके निकलनेसे होनेवाला अङ्ग-संचार—११

सुहुमेहिं दिट्ठिसंचालेहिं—सूक्ष्म दृष्टिका चलना—१२
एवमाइएहिं आगारेहिं—इत्यादि अर्थात् चोर, राज्य, अग्नि अथवा हिंसक जन्तुके भयरूप आगार।

अभग्गो—(किया हुआ कायोत्सर्ग) भङ्ग नहीं होगा।
अविराहिओ—हानि नहीं पहुँचेगी।
हुज्ज मे काउस्सग्गो—मेरा कायोत्सर्ग हो (कहाँ तक ?)
जाव—जब तक।
अरिहंताणं भगवंताणं—अरिहन्त भगवान्‌के।
णमोक्कारेणं—नमस्कारसे।
न पारेमि—समाप्त न करूँ।
ताव कायं—तब तक अपने शरीरको (मैं)
ठाणेणं—स्थानसे (एक स्थानपर स्थित रहकर)
मोणेणं—मौन रहकर।
झाणेणं—धर्मध्यानपूर्वक (मनको एकाग्र करके)
अप्पाणं वोसिरामि—सावद्य व्यापारसे आत्माको हटाता हूँ।

विवेचन।

चौथे पाठका आशय आत्माको विशेष शुद्ध करनेका है। इसकेलिये कायोत्सर्गके करनेकी आवश्यकता है। कायोत्सर्गके साथ आगार इसलिये वतलाये गये हैं कि वे शरीरके प्राकृतिक—स्वाभाविक व्यापार हैं अत एव वे विना इच्छाके भी होजाने सभव हैं। उनके होजानेपर की हुई प्रतिज्ञा भङ्ग न समझी जाय। आत्माकी मलीनताको दूर करनेकेलिये यह आवश्यक है कि की हुई भूलोंका स्मरण किया जाय, विचार किया जाय, उनका पश्चात्ताप किया जाय, छल-कपट-दगा फ़रेव जैसे पापोको दूर किया जाय और आन्तर प्रदेश शल्यरहित वनाया जाय।

ऐसी उत्तम भावनाओंको भाकर मन, वचन और कायकी शुद्धि करके समाधि अवस्था प्राप्त करना, इस पाठका उद्देश्य है। यह पाठ योगदशाका भान कराता है। कायोत्सर्गका उद्देश्य हृदय शुद्धिका है। कायोत्सर्गमें, अशुभ प्रवृत्तियोको रोककर चित्तको स्थिर करके अमुक श्वासोच्छ्वास तक परमात्माके साथ लगाया जाता है। अर्थात् उस समय परमात्माका ध्यान धरना चाहिये। लेकिन हरएकको परमात्माके ध्यानका रस्ता मालूम नहीं होता। ऐसे लोगोंकेलिये परम्परासे यह वात चली आरही है कि वे कायोत्सर्गके समय तीसरे पाठका (इरियावहिका) मनमें उच्चारण करें।

[चौथा पाठ समाप्त।]

पाँचवाँ पाठ (लोगस्स)

अनुष्टुप्।

लोगस्स उज्जोयगरे, धम्मतित्थयरे जिणे।
अरिहंते कित्तइस्सं, चउविसंपि केवली ॥१॥

आर्या (गीति)

उसभमजियं च वंदे, संभवमभिणंदणं च सुमइं च ।
पउमप्पहं सुपासं, जिणं च चंदप्पहं वंदे ॥२॥
सुविहिं च पुप्फदंतं, सीयलसिज्जंसवासुपुज्जं च ।
विमलमणंतं च जिणं, धम्मं संतिं च वंदामि ॥३॥
कुंथुं अरं च मल्लिं, वंदे मुणिसुव्वयं नमिजिणं च ।
वंदामि रिट्ठनेमिं, पासं तह वद्धमाणं च ॥४॥
एवं मए अभिथुआ, विहुयरयमला पहीणजरमरणा ।
चउवीसं पि जिणवरा, तित्थयरा मे पसीयंतु ॥५॥
कित्तिय वंदिय महिया, जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा ।
आरुग्ग बोहिलाभं, समाहिवरमुत्तमं दिंतु ॥६॥
चंदेसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासयरा ।
सागरवरगंभीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥७॥

संस्कृत छाया ।

लोकस्य उद्योतकरान्, धर्मतीर्थंकरान् जिनान् ।
अर्हतः कीर्तयिष्ये, चतुर्विंशतिमपि केवलिनः ॥१॥
ऋषभमजितं च वन्दे, संभवमभिनन्दनं च सुमतिं च ।
पद्मप्रभं सुपार्श्वं, जिनं च चन्द्रप्रभं वन्दे ॥२॥
सुविधिं च पुष्पदन्तं, शीतलश्रेयांसवासुपूज्यान् च ।
विमलमनन्तं च जिनं, धर्मं शान्तिं च वन्दे ॥३॥
कुन्थुमरं च मल्लिं, वन्दे मुनिसुव्रतं नमिजिनं च ।
वन्दे अरिष्टनेमिं, पार्श्वं तथा वर्धमानं च ॥४॥

एवं मया अभिष्टुता, विधूतरजोमलाः प्रक्षीणजरामरणाः ।
चतुर्विंशतिरपि जिनवराः, तीर्थंकराः मम प्रसीदन्तु ॥५॥
कीर्तितवन्दितमहिताः, ये एते लोकस्य उत्तमाःसिद्धाः ।
आरोग्यबोधिलाभं, समाधिवरमुत्तम ददतु ॥६॥
चन्द्रेभ्यो निर्मलतराः आदित्येभ्यः अधिकं प्रकाशकराः ।
सागरवरगम्भीराः, सिद्धाः सिद्धिं मम दिशन्तु ॥७॥

अर्थ—

लोगस्स—लोकके (स्वर्ग-मर्त्य-पाताल, इन तीन लोकोंके)
उज्जोयगरे—उद्योत-प्रकाश करनेवाले (केवल ज्ञानरूप सूर्यसे)
धम्मतित्थयरे—जिससे तिराजाय, ऐसे धर्मरूप तीर्थके करनेवाले ।
जिणे—रागद्वेषको जीतनेवाले जिनकी ।
अरिहते—कर्मरूप शत्रुओंको हननेवाले अरिहन्तोकी ।
कीत्तइस्स—स्तुति-प्रशसा करूँगा ।
चउविस पि—चौबीस तीर्थंकर तथा उनसे अतिरिक्त अन्यको भी।
केवली—केवल ज्ञानियोंको ।
उसभ—श्रीऋषभदेवको–१ ।
अजियं च वदे—और श्री अजितनाथको वंदता हूँ–२ ।
संभव—श्रीसभवनाथको–३ ।
अभिनदणं च—और श्री अभिनन्दन स्वामीको–४ ।
सुमइ च—तथा श्री सुमतिनाथको–५ ।
पउमप्पह—श्रीपद्मप्रभुको–६ ।
सुपास—श्रीसुपार्श्वनाथको–७ ।
जिणं च चदप्पह वंदे—और श्रीचन्द्रप्रभजिनको वंदता हूँ–८ ।
सुविहिं च पुप्फदत—तथा श्रीसुविध प्रभुको, जिनको कि पुष्पदन्त भी कहते हैं–९ ।

सिग्रसं—श्रीशीतलनाथको-१०।
सिज्जंस—श्रीश्रेयांसनाथको-११।
वासुपुज्जं च—और वासुपूज्य स्वामीको-१२।
विमलं—श्रीविमलनाथको-१३।
अणंतं च—श्रीअनन्तनाथको-१४ तथा।
जिणं धम्मं—श्रीधर्मनाथजिनको-१५।
संतिं च वंदामि—तथा श्री शान्तिनाथको वंदता हूँ-१६।
कुंथुं—श्रीकुन्थुनाथको-१७।
अरं च—तथा श्रीअरहनाथको-१८।
मल्लिं वंदे—श्रीमल्लिनाथको वंदता हूँ-१९।
मुणिसुव्वयं—श्रीमुनिसुव्रतको-२०।
नमिजिणं च वंदामि—तथा श्रीनमिजिनको वंदता हूँ-२१।
रिट्ठनेमिं—श्रीअरिष्टनेमिको-२२।
पासं तह—तथा श्रीपार्श्वनाथको-२३।
वद्धमाणं च—और श्री वर्धमान (महावीर स्वामी) को-२४।
एवं मए—इस प्रकार मैंने।
अभिथुआ—(नमस्कार पूर्वक) स्तुतिकी।
विहुयरयमला—(वे तीर्थंकर कैसे हैं ?-) दूर की है कर्मरूप र
जिन्होंने ऐसे।
पहीणजरमरणा—पहीण—क्षय कर दिया है बुढ़ापा और मर
जिन्होंने ऐसे (समय-समय आयुष्य जो घटे, व
'जरा', और सर्वथा जो आयुष्य घटे, व
'मरण' कहलाता है।)
चउविसं पि—चौबीस तीर्थंकर तथा अन्य भी।
जिणवरा—सामान्यकेवली।
तित्थयरा—तीर्थंकर।
मे पसीयंतु—मेरे ऊपर प्रसन्न होओ—मेरे ऊपर कृपा करो।

कित्तिय—इन्द्रादिको द्वारा कीर्ति-प्राप्त ।
वन्दिय—इन्द्रादिको द्वारा वन्दित ।
महिया—इन्द्रादिकों द्वारा पूजित । } १

जे ए—ये जो ।

लोगस्स—लोकके ।

उत्तमा—उत्तम-प्रधान ।

सिद्धा—सिद्ध हुए हैं—निष्ठितार्थ हैं—जिनके सब अर्थ संपूर्ण हो चुके हैं ।

आरुग्ग—आरोग्य-स्वास्थ्य ।

वोहिलाभ—वोधि-सम्यक्त्व-प्राप्ति ।

समाहिवरमुत्तम दिंतु—प्रधान और उत्तम समाधि—परमशान्ति को दो ।

चन्देसु निम्मलयरा—चन्द्रमासे भी अधिक निर्मल ।

आइच्चेसु अहिय पयासयरा—सूर्यसे भी अधिक प्रकाश करनेवाले

सागरवरगम्भीरा—सागरोंमें सवसे वडा सागर स्वयभूरमण उसकी तरह गम्भीर ।

सिद्धा सिद्धि मम दिसन्तु—सिद्ध परमात्मा सिद्धको मुझे दें ।

विवेचन ।

चौथे पाठसे विशुद्ध वनाये गये हृदय क्षेत्रमें अमृतकी वर्षा करने रूपमें यह पाँचवाँ पाठ वोलना चाहिये । दूसरे पाठ गद्यमें हैं लेकिन यह पद्यमें है । पहिला श्लोक अनुष्टुब् छन्दमें और शेष आर्य्या छन्दमें हैं । इस पाठका उद्देश्य, चौवीस तीर्थंकरोंके स्तवन द्वारा हृदयको पवित्र वनानेका है । इसलिये इस पाठको वोलते समय यह सकल्प करना चाहिये—ऐसी कल्पना करना चाहिये कि

१—इस जगह पाठान्तर भी है—कित्तिया=कीर्ति गाई, वन्दिया=वदे, मए=मैंने ।

परमात्माकी अमुक कृपासे उनकी अनन्त प्रकाशमय किरणें हमारे हृदयप्रदेशमें घुसकर हमारे भावनानुसार हमारे मनको शुद्ध कररही हैं, श्लोकोंको उनका अर्थ समझते हुए गाते-गाते इस तरह का विचार करना चाहिये।

अन्य दर्शनोंमें योगके जैसे अनेक शास्त्र रचे हुए हैं वैसे ही जैनमें भी 'ज्ञानार्णव,' 'योगप्रदीप,' 'योगशास्त्र,' 'योगबिन्दु' आदि अनेक ग्रन्थ योगके प्रतिपादक हैं। उनमें समाधि प्राप्त करनेका सरल मार्ग बताया हुआ है। यहाँ सूचनारूप दर्शाया है कि हे प्रभो! 'समाहिवरमुत्तमं दिंतु'—हमें उत्तम प्रकारकी समाधि दो। समाधि योगका एक अन्तिम अङ्ग है। योगसम्बन्धी शास्त्रोंमें उसका विवेचन बहुत मनन करने योग्य बताया है। योग हरएक प्राणीको परमानन्द पानेकी एक चाबी है। वह चाबी योगके सिर्फ ग्रन्थ पढ़नेसे पा लेनी मुश्किल है। योगनिष्ठ किसी गुरुकी कृपासे ही वह चाबी मिल सकती है। जिज्ञासु पुरुषको वह उसके अधिकार के अनुसार ही प्राप्त हो सकती है।

बहुतसे मनुष्योंके मनमें यह भूत सवार रहता है कि निरञ्जन, निराकार परमात्मा तो किसीको भला-बुरा करता नहीं है, इसलिये उसका स्मरण या उसकी कृपा चाहना व्यर्थ है। यह भूत वास्तव में उनकी अज्ञानताका है। पानी या अग्निकी किसीको दुःखी-सुखी करनेकी इच्छा नहीं है। तो भी उनमें यह शक्ति है कि विधिपूर्वक उनका सेवन करनेवालेको सुख प्राप्त होता ही है। और अविधिपूर्वक उनका सेवन करनेवालेको दुःख। यथा—अग्निमें कोई हाथ देदे अथवा गहरे पानीमें जाकर डूब जाय तो उसे दुःख मिले ही। इसमें अग्नि या पानीने इरादापूर्वक उन्हें दुःख नहीं पहुँचाया। लेकिन उसमें ऐसी शक्ति ही है। इसी तरह परमात्माके सामने भी विधिपूर्वक उनका स्तवन ध्यान-कीर्तन आदि करनेसे प्राणीमें सद् गुण प्राप्त होते हैं और सुख मिलता है। और उनसे विमुख होकर

उनके न्यायका अनादर करके अपमान करनेसे दुःख मिलता है। शास्त्रमें कहा है कि "यादृशी भावना यस्य, सिद्धर्भवति तादृशी"— "जैसी जाकी भावना, तैसी ताको सिद्धि।" दुष्टका समागम दुष्ट बनाता है। और सन्तका समागम सन्त बनाता है। उसी तरह परमात्माका ध्यान धीरे-धीरे परमात्ममय बना लेता है। यह निःस्सन्देह है। अतः परमात्माके पवित्र नियम—दया-सत्य-अस्तेय ब्रह्मचर्य, परोपकार, नीति, प्रामाणिकता, बन्धुत्व, दुष्टतात्याग आदि का परिपालन कर हरएकको अपना मन परमात्माके स्मरण-कीर्तन में लगाना आवश्यक है।

[पाँचवाँ पाठ समाप्त।]

छठा पाठ (करेमि भन्ते!)

द्रव्यथकी सावज्ज जोगना पच्चक्खाण, क्षेत्रथकी आखा लोक प्रमाणे, कालथकी बे घडी उपरान्त न पालुं त्यां सुधी, भावथकी छ कोटीये पच्चक्खाण।

करेमि भन्ते! सामाइयं, सावज्जं जोगं पच्चक्खामि, जाव-नियमं पज्जुवासामि, दुविहं तिविहेणं न करेमि कारवेमि मणसा वयसा कायसा, तस्स भन्ते! पडिक्कमामि निन्दामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।

संस्कृत छाया।

करोमि हे भगवन्! सामायिकं सावद्यं योगं प्रत्याख्यामि यावत् नियमं पर्युपासे, द्विविधं त्रिविधेन मनसा वचसा कायेन न करोमि न कारयामि, तस्य भगवन्! प्रतिक्रमामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि॥

अर्थ—

द्रव्ययकी सावज्ज जोगना पच्चक्खाण—द्रव्यसे पापरूप वस्तुओं का सम्बन्ध छोड़ता हूँ।

क्षेत्रयकी आखा लोकप्रमाणे—क्षेत्रसे सम्पूर्ण लोकके अन्दर।

कालयकी बे घड़ी उपरान्त न पालुं त्यां सुधी—कालसे दो घड़ी तक मेरी इच्छा पर्यन्त।

भावयकी छकोटीए पच्चक्खाण—भावसे अपने अन्तःकरणको शुद्ध करके छह प्रकारका पाप सम्बन्ध छोड़ता हूँ।

(इतना पाठ आचार्योंने पीछेसे विशेष समझनेके लिये गुजराती भाषामें जोड़ दिया है। मूल पच्चक्खाणके पाठका अर्थ इस तरह है—)।

करेमि भन्ते!—(मैं) करता हूँ, हे पूज्य!—भगवन्! भदन्त! (कल्याणकारी!), भयान्त! (भयका अन्त करनेवाले!), भवान्त! (भव-संसारका अन्त करनेवाले)।

सामाइयं—सामायिकको।

सावज्जजोगं—सावद्य-पाप, उसके योग-व्यापारको।

पच्चक्खामि—त्यागता हूँ, छोड़ता हूँ।

जाव—जहाँ तक।

नियमं—(ऊपर बतलाये हुए) समय तक।

पज्जुवासामि—इस व्रतको सेवा हूँ और इसीमें वर्तता हूँ।

दुविहं—दो प्रकारसे
तिविहेणं—तीन प्रकारसे
} नीचे दो करण और तीन योग बतलाये हैं।

न करेमि—मैं स्वयं सावद्य योग करूँगा नहीं
न कारवेमि—औरोंसे सावद्ययोग कराऊँगा नहीं
} ये दो प्रकारके 'करण' कहलाते हैं

मणसा—मनसे
वयसा—वचनसे } ये तीन 'योग' कहलाते हैं।
कायसा—कायसे

तस्स भन्ते !—उसका (दो करण और तीन योगोंसे गुणा करनेपर छह कोटी होती हैं। इन छह प्रकारके पाप योगोंका) हे भगवन्!

पडिक्कमामि—त्याग करता हूँ।
निन्दामि—निन्दा करता हूँ।
गरिहामि—गर्हा करता हूँ-गुरुसाक्षी पूर्वक धिक्कार करता हूँ।
अप्पाणं—अशुभ योगमें प्रवेश करती हुई पापात्माको पापोंसे।
वोसिरामि—छुडाता हूँ।

विवेचन।

इस पाठके अतिरिक्त उपर्युक्त सब पाठ हृदय-क्षेत्रको विशुद्ध करनेवाले हैं। यह पाठ शुद्ध हृदयमें समस्थिति रूप सामायिकको स्वीकार करनेकेलिये है। "करेमि भंते !" इस वाक्यसे खड़े होकर दोनों हाथोंको जोडकर पूरा पाठ गुरुके सामने बोलना चाहिये। उसका अर्थ यह है—

"हे भदन्त !—कल्याणकारी!, हे भवान्त!—भवका अन्त करकवाले!, हे भयान्त !—भयका अन्त करनेवाले!, हे भगवन्! ज्ञानवान्-पूज्य! जितने समयका नियम लिया है उतने समय तक मैं अठारह पापोंमेंसे कोई भी पाप करूँगा नहीं और कराऊँगा भी नहीं, इस क्रियाको धिक्कारता हूँ। और उन पापोंसे अपनी आत्माको विमुक्त करता हूँ।"

इसके कहनेका तात्पर्य यही है कि क्षेत्रविशुद्धिके पहले मैं पापव्यापारमें लगा हुआ था। अब मैं उन पापोंको छोड़ता हूँ।

इसलिये हरएक मूल मेरे निश्चित किये हुए समय तक मुझसे दूर रहो, मुझे स्पर्श मत करो लालसा, तृष्णा और संकल्प-विकल्पकी हरएक क्रिया मुझसे बाहर हो जाओ और मेरे कर्म-कोषमें विद्यमान उनके कार्योंपर इस समय मैं मजबूत ताला लगाता हूँ ताकि संसारका कोई भी विचार स्फुरायमान होकर मेरे मनको अशुद्ध न करने पावे, सारे संसारसे मैं अपना मन अलग रख कर इस समय अपने घरका हिसाब जाँचनेकेलिये, परमात्माके आदेशोंका विचार करनेकेलिये और अपनी बिगड़ी हुई मानसिक घड़ी को सुधारनेकेलिये रुका हुआ हूँ। इसलिये हे दुष्ट विचाररूप पिशाचो! ममता-तृष्णा तथा अनेक खराब आदतें रूप पिशाचिनियों! निश्चित समय तक मुझसे दूर रहो। मने कर देनेपर भी यदि तुम आनेका साहस करोगी तो तुम्हारा मान बिल्कुल नहीं रहेगा। इसलिये अलग ही रहो।

इस तरह अपने शुद्ध मनसे संकल्प करना चाहिये और निश्चित किये हुये समय तक पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिये। अर्थात् मन किये हुये यह कोटि रूप यह द्वारोंपर मानों चौकीदार नियुक्त कर दिये हों, इस तरह ख्याल रखना चाहिये कि जिससे दुष्ट पिशाच अन्दर प्रवेश करके आरम्भ किये हुए अपने यत्नमें विघ्न उपस्थित न करें। शुद्ध यत्नको अशुद्ध न करे।

सामायिक करनेवालेको १० मनके, १० वचनके और १२ कायके, ये ३२ दोष तथा ५ अतीचार, जो कि आगाड़ी कहे हुए हैं, जान लेना चाहिये। ताकि इन दोषोंके उत्पन्न होते ही वे छोड़े जा सकें।

इस पाठके बाद सामायिक व्रत तो स्वीकार किया गया। परन्तु उसके बाद अरिहन्तको वन्दन करना उनका कीर्तन करना—बहुमान करना चाहिये, यह बात आचार्योंने स्वीकार की है। इसलिये यह पाठ बोलना चाहिये।

[छठा पाठ समाप्त।]

सातवाँ पाठ (नमोत्थु णं)

नमोत्थु णं अरिहंताणं भगवंताणं आइगराणं तित्थयराणं सयंसंबुद्धाणं पुरिसोत्तमाणं पुरिससिंहाणं पुरिसवरपुंडरियाणं पुरिसवरगन्धहत्थीणं लोगुत्तमाणं लोगनाहाणं लोगहियाणं लोगपइवाणं लोगपज्जोयगराणं अभयदयाणं चक्खुदयाणं मग्गदयाणं सरणदयाणं जीवदयाण बोहिदयाणं धम्मदयाणं धम्मदेसियाणं धम्मनायगाणं धम्मसारहिणं धम्मवरचाउरंत चक्कवट्टिणं, दीवोत्ताणसरणगइपइट्ठाणं,*-अप्पडिहयवरनाणदंसणधराणं विअट्टछउमाणं जिणाणं जावयाणं तिन्नाणं तारयाणं बुद्धाणं बोहयाणं मुत्ताणं मोयगाणं सव्वन्नूणं सव्वदरिसिणं सिवमयलमरुवमणंतमक्खयमव्वावाहमपुणरावित्ति सिद्धिगइनामधेयं ठाणं संपत्ताणं नमो जिणाणं जियभयाणं ।

संस्कृत छाया ।

नमोस्तु अर्हद्भ्यः + भगवद्भ्यः आदिकरेभ्यः तीर्थंकरेभ्यः स्वयंसंबुद्धेभ्यः पुरुषोत्तमेभ्यः पुरुषसिंहेभ्यः पुरुषवरपुण्डरी-

---

* "दीवोत्ताण सरणगइ पइट्ठाण" यह पाठ पुरानी पुस्तकोंमें नहीं है । पीछेसे जोड़ा गया मालूम देता है ।

+ संस्कृतमें नियम है कि नमस्कारके योगमें द्वितीयाके स्थानपर चतुर्थी विभक्ति आती है । प्राकृतमें चतुर्थीकी जगहपर षष्ठी हो जाती है । इसलिये 'अरिहंताण, भगवंताण' आदिमें षष्ठी विभक्ति होते हुए भी संस्कृतच्छायामें उस जगह चतुर्थी विभक्ति लिखी गई है ।

केभ्यः पुरुषवरगन्धहस्तिभ्यः लोकोत्तमेभ्य लोकनाथेभ्यः लोकहितकृद्भ्य' लोकप्रदीपेभ्य लोकप्रद्योतकरभ्यः अभय-दातृभ्यः चक्षुदातृभ्यः मार्गदातृभ्यः शरणदातृभ्यः जीवदा-तृभ्यः बोधदातृभ्यः धर्मदातृभ्यः धर्मदेशकेभ्यः धर्मनाय-केभ्यः धर्मसार्थिभ्यः धर्मवरचतुरन्तचक्रवर्तिभ्यः "द्वीपत्रा-णशरणगतिप्रविष्टेभ्यः" अप्रतिहतवरज्ञानदर्शनधरेभ्यः विग-तछद्मभ्यः जिनेभ्यः ज्ञापकेभ्यः तीर्णेभ्यः तारकेभ्यः बुद्धेभ्यः बोधकेभ्यः मुक्तेभ्यः मोचकेभ्यः सर्वज्ञेभ्य सर्वद र्शिभ्यः शिवमचलमरुजमनन्तमक्षयमव्याबाधमपुनरावृत्ति सिद्धिगतिनामधेयं स्थानं संप्राप्तेभ्य नमो जिनेभ्यः जितभ येभ्यः स्थानं संप्राप्तुकामेभ्य' ।

अर्थ—

नमोत्थु णं—नमस्कार हो।

अरिहंताणं—श्रीअरिहन्तोंको।

भगवंताणं—श्रीसिद्ध भगवन्तोंको (वे कैसे हैं ? उनके विशेषण नीचे लिखे अनुसार हैं)।

आइगराणं—धर्मकी आदिको करनेवाले—धर्मके प्रथम स्थापक।

तित्थयराणं—चार तीर्थों (साधु साध्वी श्रावक और श्राविका) के संस्थापक।

सयं संबुद्धाणं—स्वयं—अपने सब प्रकारके बोधको प्राप्त कर लेने वाले।

पुरिसोत्तमाणं—पुरुषोंमें प्रधान।

पुरिससिंहाणं—पुरुषोंमें सिंहसमान।

पुरिसवरपुंडरियाणं—पुरषोंमें प्रधान उज्वल पुण्डरीक कमल-समान।

पुरिसवरगंधहत्थीणं—पुरषोंमें प्रधान गन्धहस्तीके समान।

लोगुत्तमाण—तीनों लोकोंमें उत्तम।

लोगनाहाणं—तीनों लोकोंके नाथ।

लोगहियाणं—तीनों लोकोंके हित करनेवाले।

लोगपइवाणं—तीनों लोकोंकेलिये प्रदीप समान।

लोगपज्जयगराण—तीनों लोकोंका प्रद्योत करनेवाले।

अभयदयाणं—अभयदान देनेवाले।

चक्खुदयाण—ज्ञानरूप चक्षुके देनेवाले।

मग्गदयाणं—मोक्षमार्गके बतानेवाले।

सरणदयाण—जन्म-मरणके त्रास सहनेवालोंको शरण देनेवाले।

जीवदयाण—सयम अथवा ज्ञानरूप जीवनके देनेवाले।

बोहिदयाण—सम्यक्त्वरूप सद्बोधके देनेवाले।

धम्मदयाणं—धर्मरूप अमृतबूटीके देनेवाले।

धम्मदेसियाण—धर्म* शुद्ध स्वरूपको समझानेवाले।

धम्मनायगाण—(कर्मकी फौजके सामने युद्ध करनेवाले) धार्मिक सेनाके नायक।

धम्मसारहिणं—धार्मिक रथके सारथी।

धम्मवरचाउरतचक्कवट्टीण—धार्मिक सेना द्वारा चारों गतियोंका अन्त (विजय) करनेवाले चक्रवर्तीरूप।

दीवोत्ताण—संसाररूप समुद्रमें गोते खानेवाले जीवोंके प्राण बचानेवाले।

सरणगइपइट्ठाण—चार गतिमें पड़े हुए जीवोंकेलिये शरणभूत।

अप्पडिहयवरनाणदसणधराणं—अप्रतिहत—किसी भी पदार्थसे वो रुक न सके। ऐसे प्रधान

(केवल) ज्ञान दर्शनको धारण करनेवाले।

वियट्टछउमाणं—विगत—चला गया है, छद्म—कर्मरूप आच्छादन जिनका ऐसे।

जिणाणं—राग-द्वेषके जीतनेवाले।
जावयाणं—दूसरोंको जिताने वाले।
तिन्नाणं—भवरूप समुद्रको तैरजाने वाले।
तारयाणं—दूसरोंको तिरा देने वाले।
बुद्धाणं—स्वयं तत्त्वोंके जानकार।
बोहियाणं—दूसरोंको तत्त्व समझा देनेवाले।
मुत्ताणं—स्वयं मुक्त हुए।
मोयगाणं—दूसरोंको मुक्त करनेवाले।
सव्वन्नुणं—सम्पूर्ण ज्ञानवाले (सर्व पदार्थोंके जानकार)
सव्वदरिसिणं—सम्पूर्ण पदार्थोंके देखनेवाले।
सिवं—उपद्रव-रहित—कल्याणरूप।

(यहाँसे सब विशेषण सिद्धस्थानके हैं—)

अयलं—अचल।
अरुयं—रोगरहित।
अणंतं—अनन्त-जिसका अन्त-नाश न होता हो।
अक्खयं—अक्षय।
अव्वाबाहं—बाधा रहित।
अपुणरावित्ति—जहाँसे फिर आना न होता हो।
सिद्धिगइनामधेयं—जिसका कि नाम सिद्धगति है।
ठाणं संपत्ताणं—इस स्थानको प्राप्त हुए ऐसे।
नमो जिणाणं—जिनोंको (हमारा) नमस्कार हो।
जियभयाणं—कि जिन्होंने भयमात्रको जीत लिया हो।

विवेचन।

परम्परासे तीन 'नमोत्थु णं' के बोलनेकी पद्धति है। पहिला 'नमोत्थु णं' श्रीसिद्धि भगवान्‌केलिये बोला जाता है। दूसरा श्री अरिहन्त देवकेलिये—महाविदेह क्षेत्रके वर्तमान तीर्थंकरोंकेलिये बोला जाता है। उसमें इतना फ़र्क़ है—'ठाणं संपत्ताणं' की जगहपर 'ठाणं संपाविउं कामाणं'—'स्थानं सम्प्रातुकामेभ्यः'-'आगे कही जाने वाली सिद्धगति स्थानको पानेके अभिलाषियोंको'। तीसरा नमस्कार अपने धर्माचार्य्यके लिये बोला जाता है। वह इस तरह है-"त्रीजु नमोत्थु णं मम धम्मायरियस्स धम्मउवदेसगस्स अणेगगुणसयुतस्स" सूत्रमें यह पाठ है, लेकिन इस तरह बोलनेकी पद्धति किसी-किसी जगह ही है। बोलने और समझनेमें सहूलियत होनेकी वजहसे अनेक जगहोंपर उस पाठके बदले लोग इस तरह बोला करते हैं—

तीसरा नमोत्थु णं हमारे धर्मगुरु, धर्माचार्य, धर्मोपदेशक, सम्यक्त्वबोधिके दाता, अनल्पदयानिधि, भवसागरमें डूबतेहुए हम सरीखोंको तारनेवाले, मार्गप्रदर्शक, पापपटलके उतारने वाले, अज्ञानरूप तिमिरदलको तोड़नेकेलिये ज्ञानरूप अपूर्व प्रकाशके करनेवाले, आदि अनेक उपमा विराजमान पूज्य-साहिब श्री १००८..............................

आदि साधु साध्वी जो गुर्वादकी आज्ञामें विचर रहे हों, उन सबको सम्पूर्ण विधि सहित हमारा वन्दन-नमस्कार हो।

यह पाठ सूदे घोंटूको नीचे रखकर और डेरे घोंटूको खड़ा रखकर दोनों हाथोंको जोड़कर बोलना चाहिये। इस पाठके पूरा होजानेपर समझना चाहिये कि सामायिक स्वीकारता पूरी हुई।

सामायिक स्वीकार कर लेनेके बाद आगे लिखे गये अनेक उपायोंमेंसे, जो अनुकूल पड़े, उसीको उपयोगमें लाकर सामा-

यिकका समय व्यतीत करना चाहिये। यदि कदाचित् सामायिक के समयमें उसे पुष्ट करनेवाले व्याख्यानोंके सुननेका योग न मिले या कोई वैराग्योत्पादक पुस्तक न मिले अथवा ध्यान साधनेका अभ्यास न हो, तो पीछेसे कुछ चुने हुए वाक्य जो संग्रहीत किये गये हैं, पढ़ने और मनन करनेके काममें आसकेंगे। उनसे सामायिकका समय व्यतीत करना चाहिये।

[सातवाँ पाठ समाप्त]

आठवाँ पाठ (सामायिक करनेकी विधि)

एयस्स नवमस्स सामाइय वयस्स पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तं जहा ते आलोउं—मणदुप्पणिहाणे, वयदुप्पणिहाणे, कायदुप्पणिहाणे, सामाइयस्स सइ अकरणयाए, सामाइयस्स अणवट्ठियस्स करणयाए, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं। सामायिक सम्मं काएणं न फासियं, न पालियं, न तिरियं, न किट्टियं, न सोहियं, न आराहियं, आणाए अणुपालीयं न भवइ, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं॥

संस्कृत छाया।

एवं नवमसामायिकव्रतस्य पञ्च अतिचारा ज्ञातव्याः, न समाचरितव्याः, तद्यथा—तदालोचयामि, मनोदुःप्रणिधानं, वचोदुःप्रणिधानं, कायदुःप्रणिधानं, सामायिकस्य सति (समये) अकरणता, सामायिकस्य अनवस्थितस्य करणता, तस्य मिथ्या मे दुष्कृतं। सामायिक सम्यक्कायेन न स्पृष्टं न पालितं

न तीरितं न कीर्तितं न शोधितं न आराधितं आज्ञया अनु-
पालितं न भवति, तस्य मिथ्या मे दुष्कृतं ।

सामायिकमें दश मनके, दश वचनके और बारह काय
के, इन बत्तीस दोषोंमेंसे, जो कोई दोष लगा हो तो तस्स
मिच्छा मि दुक्कडं ।

सामायिकमें स्त्रीकथा, भक्तकथा, देशकथा और राज-
कथा, इन चार विकथाओंमेंसे कोई कथा की हो तो तस्स
मिच्छा मि दुक्कडं ।

सामायिकमें आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा और
परिग्रहसंज्ञा, इन चार संज्ञाओंमेंसे किसी संज्ञाका सेवन
किया हो तो तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।

सामायिकमें अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अना-
चाररूप जानते हुए या बेजानते हुए मन-वचन-कायसे कोई
दोष लगा हो तो तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।

सामायिकव्रत विधिसे लिया और विधिसे पाला विधि
करते हुए यदि कोई अविधि होगई हो तो तस्स मिच्छा
मि दुक्कडं ।

सामायिकका पाठ बोलते हुए काना, मात्रा, बिन्दी,
पद, अक्षर, ह्रस्व, दीर्घ, न्यून, अधिक या विपरीत बोला
हो तो अनन्त केवली प्रभुकी साक्षी पूर्वक तस्स मिच्छा
मि दुक्कडं ।

अर्थ—

एयस्स नवमस्स सामाइयवयस्स—स्वीकार किये गये सामायिक नामके नौवें व्रतके।

पंच अइयारा जाणियव्वा—पाँच अतीचार हैं, जोकि समझ लेने योग्य हैं (लेकिन वे)

न समायरियव्वा—करने योग्य नहीं है।

तं जहा, ते आलोउं—वे इस प्रकार हैं। उनको मैं विचारता हूँ।

मणदुप्पणिहाणे—मनको अनुचितरूपसे प्रवर्ताया हो।
वयदुप्पणिहाणे—वचनको " "
कायदुप्पणिहाणे—कायको " "

सामाइयस्स सइ अकरणयाए—सामायिक स्वीकार कर लेनेके बाद उसे पूरा न किया हो।

सामाइयस्स अणवट्ठियस्स करणयाए—सामायिक अव्यवस्थित रूपसे किया हो।

तस्स मिच्छा मि दुक्कडं—वह पाप मेरा मिथ्या हो।

सामायिक सम्मंकाएणं—सामायिकको अच्छी तरह शरीरसे।

न फासियं न पालियं न तीरियं—न स्वीकार किया हो, न पाला हो और न पूरा किया हो।

न किट्टियं न सोहियं न आराहियं—न उसकी कीर्ति गाई हो, न उसे शुद्ध किया हो और न उसकी आराधना की हो।

आणाए अणुपालीता न भवइ—वीतरागकी आज्ञासे विपरीत किया हो।

तस्स मिच्छा मि दुक्कडं—तत्संबन्धी मेरा पाप मिथ्या होओ।

विवेचन।

इस पाठका अन्तिम भाग आचार्योंने प्रान्तीय भाषामें लिखा है। जिसका अर्थ लिखना अनावश्यक समझकर नहीं लिखा है। सरल है। यह पाठ सामायिकमें मन-वचन-कायरूप योगोंकी चपलतासे लगे हुए पापोंका निवारण करनेकेलिये है। इसलिये उस पाठको उपयोगपूर्वक बोलना चाहिये।

इस पाठमें 'मिच्छा मि दुक्कड'का भावार्थ यह है कि मैंने अपने व्रतको यथाशक्य पूर्ण किया है। और उसमें जहाँतक हो सका है, सावधान रहा हूँ। तो भी हे प्रभो! मेरे चपल योगोंकी वजहसे मुझसे उसका यथार्थ अनुपालन, आराधन न हुआ तो उसका पाप निष्फल हो। अर्थात् मेरी गलतियाँ—भूलें व्यर्थ हों। इस तरह सरल होकर क्षमा माँगनेसे सरल-हृदयवाले और जिस तरह हो सके उस तरह व्रतको शुद्ध करनेकी अभिलाषावालोंको क्षमा मिलती है। और व्रतका अपूर्व फल प्राप्त होता है। इसलिये हमेशा शुद्ध करनेकी अभिलाषा करना चाहिये।

[आठवाँ पाठ समाप्त।]

दूसरा भाग समाप्त।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

॥ श्रीसद्गुरवे नमः ॥

सुबोध कुसुमावली।

प्रथम कुसुम १

आध्यात्मिक वचनामृत।

१—राग-द्वेषरूपी दुर्जेय शत्रुओंका सर्वथा—समूल नाश करके आत्मपरमानन्द स्वरूपको प्रगट करनेवाले अर्हत्—योगिराज तथा निधि सर्वज्ञ महावीर देवको नमस्कार हो।

२—मैं कौन हूँ? कहाँसे आया हूँ? इस देहको छोड़ देनेके बाद मुझे कहाँ जाना है? मेरा शुद्ध स्वरूप क्या है? सुखकी अभिलाषा होते हुए भी मुझे दुःख देनेवाला कौन है? परमशान्ति का मार्ग क्या है? इस प्रकारके विचार मुमुक्षुके ही हृदयमें उत्पन्न होते हैं।

३—जो मनुष्य आत्माका स्वरूप यथार्थरूपसे जानता है, उसे स्वयं-प्राप्त विराम्य उपाधिभार परछाई की तरह प्रतीत होता है। और इसीलिये वे उपाधियाँ उसके हृदयपर कोई भारी असर करतीं—प्रभाव नहीं डालतीं।

४—हानि लाभ—भले बुरेको जानते हुए भी जिसके हृदयपर कोई भारी प्रभाव नहीं पड़ता, वह वास्तवमें आत्मज्ञानी है।

५—जागृत वही है, जोकि आत्माका रक्षण करता है, जीता वही है, जोकि जीवनका वास्तविक उद्देश्य समझकर उसे सफल बनाता है।

६—ससारमें समस्त विजयोंका आधार अपने मनका विजय करना है।

७—जिसका हृदय स्वतन्त्र है, वह, आपत्तियोंके समुदायमें भी स्वतन्त्र रह सकता है। और जिसके हृदयको परतन्त्रताकी आदत पड़ी हुई है, उसे राज्य भी मिल जानेपर परतन्त्रताकी गन्ध उससे जा नहीं सकती।

८—अपने शत्रुसे अपने नुक़सानका बदला ले लेनेपर हम अवश्य उसके बराबर हो जाते हैं। लेकिन यह बात भूल न जाना चाहिये कि शत्रुको क्षमा कर देनेपर हम उससे बड़े हो जाते हैं।

९—जो ज्ञान हमारे व्यवहारमें नहीं आ सकता, उसे अपने मस्तिष्कमें भरना आध्यात्मिक—मानसिक मन्दाग्नि करना है।

१०—पूर्ण दुःखका अनुभव हो जानेके पश्चात्प्राप्त सुखमें जो स्वाद आता है, वह विना दुःखके अनुभव हुए सुखमें नहीं आता।

११—दु:खके अनुभवीको दु:खका जो ज्ञान होता है, वह दु:खके हजारों शास्त्रके पाठीको नहीं होता।

१२—एक व्यक्ति जिस वस्तुसे सुखानुभव करता है, दूसरा व्यक्ति उसी वस्तुसे दुःखानुभव करता है। इससे यह बात सिद्ध होती है कि सुख या दु:ख देना किसी वस्तु-विशेषका स्वभाव नहीं है, वल्कि वह मनुष्यकृत सुख दुःखकी कल्पनामात्र है।

१३—विशाल आपत्तियोंको, विकट संकटोंको, भयानक भयों को, प्रतिकूल प्रतिबन्धोंको और परतन्त्रता जैसी अपमानताको केवल ज्ञानकी अग्नि ही भस्म कर सकती है।

१४—शास्त्रज्ञकी अपेक्षा आत्मज्ञ—आत्मानुभवी ही आत्म-सिद्धिको शीघ्र सिद्ध कर सकता है।

१५—मनुष्यके हृदयनेत्रमें यह एक भारी बीमारी है कि वह दूसरोंके तिल समान छोटे छिद्रको तो झटस देख लेता है और अपने पहियेके समान विशाल अनेक छिद्रोंको नहीं देख पाता।

१६—दूसरोंको तकलीफ पहुँचाते समय मनुष्यको यह अवश्य सोच लेना चाहिये कि यही तकलीफ जब सूदसहित अपने ऊपर आयेगी तब मैं उसे सहन कर सकता हूँ या नहीं।

१७—जो शक्ति जीवनके बचानेमें खर्च की जाती है, वही शक्ति यदि परम शान्तिरूप तत्त्वके प्राप्त करनेमें व्यय की जाय तो मनुष्यकी भव-भवान्तरकी पराधीनता नष्ट हो जाय।

१८—भ्रान्तिसे उत्पन्न हुई दुराशाकी दौड़ जीवनके अन्त तक बन्द नहीं हो सकती। इसलिये हे चित्त! तू विश्राम ग्रहण कर विश्राम।

१९—सद्गुरुओंके कर्तव्योंको जाननेके पहले शिष्यके कर्तव्यको जानकर सुपात्र बनना विशेष उपयोगी है।

२०—उत्पन्न हुई इच्छाओंके वेगको यदि ज्ञानके बलसे न जीता जाय बल्कि उसे बलात्कारसे—दबावसे दबाया जाय तो दबावके हट जानेपर वह वेग दूने वेगसे प्रकुपित होता है।

२१—जड़—उपादान आत्माके निमित्तसे ही बहुमूल्य है। तो भी अज्ञानताके प्रभावसे आत्मा अपनेको जड़-उपादानोंकी वजहसे बहुमूल्य समझती है।

२२—क्रियाजड़—अज्ञानपूर्वक क्रिया करनेवाला जितना उससे रसपर है शुष्क-ज्ञानी—ज्ञानकी केवल बात बनानेवाला क्या उससे कुछ कम उससे रसपर है?

२३—चारित्रकी उत्तमता और मनकी शुद्धताके बिना जो ज्ञान है, वह शुष्क ज्ञान है ।

२४—यथार्थ स्वरूप समझे बिना जो कठिन क्रियाएँ की जाती हैं, वे सब केवल अज्ञानकष्ट हैं ।

२५—बुरा-भला या भाग्य पूर्वके बुरे-भले पुरुषार्थका ही फल है।

२६—अनेक प्रतिकूल परिस्थितियोंके होते हुए भी जो व्यक्ति अपना जीवन न्यायपूर्वक व्यतीत करता है, वही इष्ट पदार्थको प्राप्त कर सकता है ।

२७—चैतन्यके संयोगसे जैसे जड़ भी चैतन्यवत् प्रतिभासित होने लगता है, वैसे ही चैतन्य भी जो कि वास्तवमें असङ्ग है, जड़के संयोगसे कर्ता बनकर सुख-दुःखका अनुभव करता है ।

२८—अग्निका एक भी स्फुलिङ्ग जिस प्रकार करोड़ों मन ईंधनको जला देनेमें समर्थ होता है, शुद्धात्मध्यानरूप अग्नि भी उसी प्रकार कर्मके असख्य पटलोंको भस्मसात् करनेमें समर्थ है ।

२९—चोर और हिंसादि महा अनर्थ जैसे रात्रिके घोर अन्धकारमें प्रवृत्त होते हैं, आध्यात्मिक अनेक अर्थ उसी प्रकार घोर अज्ञान कालमें ही उत्पन्न होते हैं ।

३०—दूसरोंके कर्तव्योंको जाननेकेलिये माथापच्ची करनेकी अपेक्षा मनुष्य यदि अपने कर्तव्योंका ज्ञान सपादन कर उन्हें अपने अमलमें लानेकी कोशिश करे तो अत्युत्तम है ।

३१—दूसरोंको वशमें करनेकी अथक मेहनत करनेकी अपेक्षा अपने मनको ही वशमें करनेकी मनुष्य यदि कोशिश करे तो बहुत अच्छा है ।

३२—याद रखना चाहिये कि स्थावर तीर्थोंकी अपेक्षा जगम तीर्थ तत्काल और प्रत्यक्ष फल देनेवाले होते हैं ।

३३—अन्तरङ्गकी उपाधियोंको छोड़े बिना बहिरङ्गकी समस्त विभूतियोंके छोड़ देनेपर भी आवश्यकताएँ नहीं छूटतीं।

३४—आत्महितकेलिये परिश्रम उठाते हुए यदि उसमें निराश भी होना पड़े तो उसमें तुम्हारा हित ही है।

३५—स्त्रियोंको परपुरुषोंका और पुरुषोंको परस्त्रियोंका विशेष परिचय प्राप्त करना अपने यशोधनको दग्ध करना है।

३६—दुरात्मा पुरुष अपना अहित जैसा अपने आप कर लेता है, वैसा उसका अहित शिरश्छेद करनेवाला उसका शत्रु भी नहीं कर सकता।

३७—भोगोपभोगकी समस्त सामग्रियोंके उपस्थित रहनेपर भी और उन्हें भोगते हुए भी जिन्हें "योगप्रिय है, समझना चाहिये कि उनकी आत्माके ऊपर कर्म-पटल बहुत हल्के हो चुके हैं।

३८—जीवको जीते हुए मरना यदि आजाय तो वास्तवमें उसे बारबार मरना न पड़े।

३९—मन यदि दुष्कृत्योंकी ओर दौड़ता हो तो उसे अवश्य सँभालना चाहिये।

४०—स्वादके त्यागीको आहारका ही त्यागी समझना चाहिये।

४१—क्रोधकी उद्दीप्त अग्निको सरसताका एक वाक्य ही समूल बुझा देता है।

४२—जबतक तैरना न आजाय तबतक गृहस्थाश्रमरूपी समुद्रमें कूद न पड़ना चाहिये।

४३—तत्संबन्धी यथोचित ज्ञान प्राप्त किये बिना प्रतिज्ञा लेनी न चाहिये और ले लेनेके बाद उसे तोड़ना न चाहिये।

४४—जो मनुष्य एक परमात्मासे डरता है, संसारमें उसे किसीसे डरनेकी जरूरत नहीं है। संसारमें किसीसे डर उसे ही होता है जिसे परमात्मा का डर नहीं है।

४५—किसी दुःखितकी सेवा करनेका सौभाग्य यदि प्राप्त हो तो विना ग्लानिके उसकी सेवा करना चाहिये।

४६—सत्य अनलकृत भी जैसा सुन्दर प्रतीत होता है, असत्य अलंकृत भी उतना सुन्दर प्रतीत नहीं होता।

४७—दूसरेके द्वारा प्राप्त की गई शिक्षा की अपेक्षा अपनेआप प्राप्त की हुई शिक्षा अधिक स्वादिष्ट और कार्यकारी होती है।

४८—ऐसी तपश्चर्या भी न करना चाहिये कि जिससे मन धर्म मार्गको छोड़ दे और अधर्म—आर्तध्यानमे गोते लगाने लग जाय।

४९—अपने हितैषीके सदुपदेशको स्वीकार न कर अपने आप अपने पाँवमें कुल्हाडी मारना, अपनी अज्ञानताका परिणाम है।

५०—जब कि जड़ पदार्थ भी अपने-अपने कर्तव्योंका पालन करते हुए देखे जाते हैं, तब यह चैतन्य तत्त्व अपने कर्तव्योंको छोड़ दे—भुला दे, यह बडे आश्चर्यकी बात है।

५१—मायिक जाल जब कि लोभको प्रदीप्त कर सकता है तो ज्ञानिक लाभ उसे शान्त भी कर सकता है।

५२—विचारशून्य व्यक्ति क्रोधका हथियार लेकर जब कि अपने आश्रितोंका अनिष्ट करता है तब विचारवान् व्यक्ति प्रसन्नो-पात्त क्रोधका हथियार लेकर अपने आश्रितोंका रक्षण करता है।

५३—गम्भीर मनुष्य अपने धर्माभिमानसे अपना और समाजका जहाँ हित करता है, मूर्ख मनुष्य वहाँ अपने मिथ्या-भिमानसे अपना और समाजका अकल्याण करता है।

५४—प्रत्येक हानि और खेदका मूल कारण प्रमाद है और प्रत्येक चमत्कार और लाभका मूल कारण पुरुषार्थ है।

५५—पुरुषार्थ पहले कभी नुकसान भी करे पर आखीरमें अपूर्व आनन्दको ही देता है।

५६—मनुष्यको अपने इस कर्तव्यको भूल न जाना चाहिये कि अपनी आर्थिक और पारमार्थिक सम्पत्तिको, जोकि उसके जीवनके प्रत्येक क्षणमें उसे प्राप्त हो रही है, दूसरोंको उनकी योग्यताके अनुसार दे।

५७—आपत्तिके समयमें परस्पर साहाय्य आदान-प्रदान करना मनुष्यका एक धर्म है। जो मनुष्य अपने इस धर्ममें भूल करता है, वह दूसरे किसी भी धर्ममें विजय प्राप्त नहीं कर सकता।

५८—तुम जिस तरह अपनेसे उच्चकोटिके व्यक्तियों—राजा, धन, महात्मा और परमात्माकी कृपा प्राप्त करनेकी इच्छा करते हो वैसे ही तुमसे नीच कोटिके व्यक्ति—क्षुद्रजन्तु, पशु, पक्षी, और दरिद्र पुरुष तुम्हारी कृपाकी इच्छा करते हैं। क्योंकि उच्च कोटिके व्यक्ति जैसे तुम्हारे देव हैं वैसे ही नीचकोटिके व्यक्तियोंके तुम देव हो।

५९—अपनेसे छोटोंपर यदि तुम दया करोगे तो तुम्हारे ऊपर तुमसे बड़े अवश्य दया करेंगे।

६०—हृदयक्षेत्रमें सनातन धर्मकी इमारत खड़ी करनेवालोंको पहले न्याय नीतिके पाये लगानेका प्रबन्ध करना चाहिये।

६१—मनुष्यको ऐसे आभूषणोंका शौकीन होना चाहिये कि जो आत्माके नष्ट हुए सौन्दर्यको पुनः प्राप्त करावे और हमेशा आत्माके साथ रहे।

६२—अशन-वसन, रहन-सहन आदि व्यावहारिक प्रत्येक पदार्थको जितना साफ-सुथरा रखनेकी आवश्यकता है, हृदयको साफ-सुथरा—शुद्ध-पवित्र रखनेकी उससे असंख्यगुणी ध्यान रखना है।

६३—मलीन अन्तःकरणमें परमात्माको बुलाना निष्फल और अयोग्य है। यह समझकर प्रभुको निमन्त्रण देनेके पहले—अन्तर

स्मरण करनेके पहले अपने अन्तःकरणको साफ़ करो और उसे सजाओ।

६४—जिसके चित्तमें दूसरोंके दुःखको देखकर अनुकम्पाका पवित्र झरना अस्खलित प्रवाहसे सदा झरता रहता है, उन्हें अपने संकटकेलिये प्रार्थना शायद ही करनी पड़े।

६५—दया, श्रद्धा, भक्ति, धैर्य, शौर्य, गम्भीर्य, संतोष, विनय, विवेक, परोपकार, प्रेम, सदानन्द आदि सद्गुण सद्विद्यारूप वृक्ष के मधुर फल हैं।

६६—मनके अपराधका दण्ड तनको देना वैसा ही है जैसा उद्धत अश्वके अपराधके दण्डमें रथचक्रको तोड़ डालना।

६७—राज्यवैभव-जन्य आनन्दकी अपेक्षा अनन्तगुणे आत्मिक आनन्दके हम स्थायी और स्वतन्त्र स्वामी हैं।

६८—पौद्गलिक वैभवका अन्तिम परिणाम क्या प्राप्त होता है? यह बात पौद्गलिकवैभवशालियोंको और उसके अभिलाषियोंको सोच लैना चाहिये।

६९—इस संसारमें कोई ऐसी बात नहीं है कि जिससे आदमी हर्षके मारे फूल जाय या शोक-सागरमें डूब जाय। लेकिन ऐसा होता तो है—हर्ष-विषादका ज्वारभटा मनुष्योंके हृदयमें पैदा होता तो है। इसका कारण अपने हृदयको घर बनाये हुए बैठा हुआ अज्ञान ही है। लेकिन जड़-चैतन्य के भेद विज्ञानीको ऐसा कभी भी नहीं होता। इसका कारण यही है कि उनके हृदयमें उसके कारणका अभाव है।

७०—अपनी उन्नति-अवनतिके मूल (उपादान) कारण हम खुद हैं और निमित्त कारण जगत्के भिन्न-भिन्न पदार्थ। उपादान कारणके बलवान बिना बने निमित्त कारण कार्यकारी नहीं है।

७१—बद्ध होजाना या मुक्त होजाना यह सिर्फ अपने अध्यवसायके ऊपर निर्भर है। इसलिए मनुष्यको अपने अन्तरङ्गके ही विचारोंको पवित्र, उदार, आनन्दित, निष्पाप, विशुद्ध और समाधिस्थ रखनेकेलिये भरसक प्रयत्न करना चाहिये। कल्याण प्राप्त करनेकी एक मात्र उत्तम औषधि यही है।

७२—हरएक कामको करनेकेलिये उसका परिपूर्ण ज्ञान पहिले अपेक्षित है, उसी प्रकार रास्ता जाने बिना उसकी यात्राकेलिये जाना नितान्त निष्फल और क्लेशकारक है।

७३—जिसका हाथ दानसे, कण्ठ सत्यसे और कान सद्बोधके श्रवणसे शोभायमान हैं, उसको और किसी दूसरे आभूषणकी आवश्यकता नहीं है।

७४—मनुष्यको चाहिये कि वह साधुका वेश धारण करनेकी जल्दी न करे किन्तु अपनेमें साधुताको प्रगट करनेकेलिये जल्दी करे।

७५—हरएक शहर मुसाफिरखाना है, उसका हरएक मकान मुसाफिरखानेकी भिन्न-भिन्न कोठरी है और उसमें ठहरनेवाला हरएक मुसाफिर है। ठहरनेकी मुद्दत पूरी हो जानेके बाद हरएक मुसाफिरको अपनी अपनी कोठरी मय सामानके छोड़कर यहाँसे जाना पड़ेगा। सौ-सवासौ वर्षसे ज्यादहका पुराना मुसाफिर हमारे देखनेमें नहीं आता। और जो कुछ मुसाफिर आजकल दीख रहे हैं वे भी सौ-सवासौ वर्षसे अधिक यहाँ ठहरने पावेंगे नहीं। यदि यह बात आप वास्तवमें समझ चुके हैं तो इस अस्थिर निवास स्थानकेलिये आप अपने चित्तको अस्थिर अशान्तिमय क्यों बनाये रखते हैं और क्यों फिर परवशता और अधर्मका भारी बोझा शिरपर लादनेको तैयार रहते हैं।

७६—जो जीव एक बार समाधि पूर्वक मरण कर लेता है, उसे फिर कभी भी असमाधि पूर्वक मरण करनेकी जरूरत नहीं

रहती। अपनी अबकी बारकी यह जीवन-यात्रा असमाधिपूर्वक समाप्त न हो, इसका पूरा-पूरा ख्याल रखना चाहिये।

७७—जिसको सम दृष्टि प्राप्त हो चुकी है, वह किसी भी सम्प्रदायके शास्त्र पढकर अपना आत्मकल्याण कर सकता है। यह उसकी निगाहकी विशेषता है।

७८—बड़े-बड़े तत्वज्ञानके शास्त्र पढ लेनेके बाद भी जो समझा जाता है वह सामान्य और परोक्ष होता है। इसीलिये तो अनेक लोग जिस-जिस सिद्धान्तको कहनेमें तो कह जाते हैं, लेकिन उसे कर नहीं सकते। और जानते हुए भी अपना अहित अपने हाथोंसे ही कर बैठते हैं।

७९—ललचा-ललचा कर मार डालनेवाला मायाका सौन्दर्य अपनी अद्भुत अद्भुत रचनाओंको प्रत्यक्ष दिखला-दिखला कर जगत्के जीवोंपर अपना प्रभाव हर समय डालता रहता है। और आत्मिक अपरिमित सौन्दर्यका खजाना गहरेसे गहरे गढ्ढेमें अदृश्य पडा हुआ है।

८०—पत्थर को छोडकर पार्श्वमणिको हर कोई ग्रहण करेगा, यह स्वाभाविक बात है। लेकिन पार्श्वमणि अत्यन्त अदृश्यमान पदार्थ है। सिर्फ उसकी कथा ही दृश्यमान—श्रूयमाण है। इसका कारण और कुछ नहीं, सिर्फ तत्सम्बन्धी प्रयोग और प्रयोजनका अभाव है और वह अभाव सिर्फ अज्ञानताके प्रभावसे है।

८१—अज्ञानताके प्रभावसे सूर्य-जैसा प्रकाशमान-दैदीप्यमान पदाथ आज गाढान्धकारमें विलीन हो रहा है, अनन्त लक्ष्मीका अधिपति आज भिखारीकी हालतमें दिखाई पड रहा है और अनन्त बलका धनी आज मुर्दा सरीखा हो रहा है।

८२—जब तक इस जीवको परम शान्तिदायक एक अपूर्व पदार्थका साक्षात्कार नहीं हो जाता, तबतक बाह्य पदार्थोंमें जो इसका लुब्धक भाव है, उसमें परिवर्तन होना कठिन है।

८३—अधिकारकी हदको पहुँच जानेके बाद निवृत्तिकी भूमि पर आनेका विचार करना चाहिये। यदि पहलेसे निवृत्ति होकर बैठ जाओगे तो "इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः" हो जाओगे।

८४—हरएक प्राणीको, कोई वस्तु प्राप्त करनी हो, तो उसके योग्य योग्यताको पहले वह अवश्य प्राप्त करले। योग्यता प्राप्त हो जानेपर वह वस्तु अपने आप उसे प्राप्त हो जाती है। योग्यताके न होनेपर मिली हुई वस्तु भी हाथसे जाती रहती है।

८५—भव्य मालूम पड़ती हुई भी बहुतसी व्यक्तियाँ, खोज करनेपर कपटसे भरी हुई अनुभवमें आई हैं। इसलिये संसारमें बहुत सावधान रहनेकी आवश्यकता है।

८६—इस प्रपञ्चमय सांसारिक बाजारमें 'सत्य' खरीदते समय बहुत विचार करनेकी आवश्यकता है। क्योंकि यहाँ सत्य बहुत विरल है—थोड़ा है।

८७—भारी कोशिश करनेके बाद जो अमूल्य और उत्तम प्रकारके साधन मनुष्यको मिलते हैं, उन्हें वह अपनी मनोवृत्तिकी विह्वलताके कारण विषय विकारोंके किल्लयाओंमें खुशीसे खर्च कर डालता है। उन्हें उसे उत्तम मार्गमें खर्च करनेका प्रयत्न करना चाहिये।

८८—"शत्रुता" की मान्यतामें तो सारा संसार ठगा गया है। असलमें तो अपना अनिष्ट जीव आप ही करता है।

८९—महात्माओंके आचरण निरखनेकी अपेक्षा उनके अन्तःकरणकी वृत्ति निरखनी उत्तम है।

९०—बुद्धिको हंसहरा हरपको स्फटिक सदृश, वचनको प्रिय, मस्तिष्कको विशाल, दृष्टिको मध्यस्थ और मनको सहनशील बनानेका हमेशा प्रयत्न करना चाहिये।

९१—हरएक प्राणीके साथ मित्रता रखना सीखो। क्योंकि वैर एक भयावह वस्तु है। यदि आपको सुखकी अभिलाषा है तो

तुमसे जितना हो सके उतनी दूसरेको शान्ति पहुँचानेका प्रयत्न करो।

९२—मार्ग विकट है; उसमें अनेक लुटेरे भी घूम रहे हैं, और साथ ही जोखम भी अधिक है। इसलिये बहुत सावधानीसे यात्रा करना।

९३—सोते-सोते बहुत समय बीत गया। अब सोनेका समय नहीं है। जगो और उठो। नहीं तो फिर पछताना पड़ेगा।

९४—जीवनका उद्देश्य, संसारके किसी कौनेमें पड़े रहकर अव्यक्त जीवन बितानेका नहीं है। किन्तु अनादिकालसे लगी हुई स्व-परकी व्यथाओंको नष्ट करनेकेलिये पुरुषार्थ करना है।

९५—कोई भी पात्र, मार खाये बिना—पिटे बिना तैयार नहीं होता। इसलिये 'पात्र' बनना हो तो मार अवश्य खानी पड़ेगी।

९६—सत् शास्त्ररूप तेलमें भीगी हुई वैराग्यरूप बत्तीसे प्रकाशित हुआ विवेकरूप दीपक आन्तरिक प्रदेशके अन्धकारको नष्ट करनेकेलिये सर्वथा समर्थ है।

९७—अहोरात्रिकी साठ घड़ियोंमेंसे दो घड़ी ऐसी निकालनी कि जिससे अट्ठावन घड़ियोंमें लगा हुआ अशुभ—कूड़ा-कचरा साफ़ हो जाय। इस तरहसे रोज़का कूडा रोज़ निकाल डालनेकी आदत रखना श्रेयस्कर है।

९८—शरीरका स्वस्थ-अस्वस्थ रहना जिस प्रकार भोजन और वायुके ऊपर निर्भर है, उसी प्रकार सूक्ष्म और स्थूल शरीरका तथा मनका भला-बुरा होना हमारे भले-बुरे विचारोंके ऊपर निर्भर है।

९९—मनुष्य अपने स्थूल शरीरको आरोग्य, बलवान् और सुन्दर बनानेकेलिये जितना ख्याल रखता है, उसका चौथाई भी ख्याल यदि वह सूक्ष्म शरीर—मनको आरोग्य, बलवान् और सुन्दर बनानेकेलिये रक्खे तो आत्मकल्याण इसका दूर नहीं है।

१००—ऊपर लिखे वचनामृतोंको बाँचने और विचारनेसे जो कुछ भी तुम्हारी समझमें आया हो, उसका वातूनी जमा-खर्च मत करो किन्तु उसे अमलमें लानेकेलिये तैयार हो जाओ। सुखकी, शान्तिकी, आनन्दकी, न्यायकी, नीतिकी, धैर्यकी, शौर्यकी, इत्यादि अन्य अनेक गुणोंकी कोरी चर्चा करनेसे कुछ होने-जाने वाला नहीं है। अमलमें लाये बिना किसी भी व्यक्तिको अभ्यासकी केवल चर्चा करनेसे आजतक सिद्धि प्राप्त नहीं हुई। इसलिये संशय रहित जितना भी तुमने समझा हो, उतने सर्वमान्य सत्य मार्गमें गमन करनेमें ढील न करो। 'कल करूँगा' यह बात जाने दो। मुलतवी करनेका समय गया। व्यवहारमें लानेका समय आगया है।

१०१—तुम स्वतन्त्र हो, सर्वशक्तिमान् हो, डरनेका और पस्तहिम्मत होनेका कोई कारण नहीं है। यदि इच्छा तुम्हारी प्रबल होगी तो रास्ता तुम्हारे लिये अपने आप साफ हो जायगा। इसलिये हे मेरे प्यारे मित्रो! उठो, तुम अपना तथा अपने आश्रितोंका श्रय-हित-कल्याण करनेकेलिये अपने मिले हुए साधनोंका सदुपयोग करो और अपने मनुष्य जीवनको सफल बनाओ।

—(०)—

दूसरा कुसुम।

नैतिक वचनामृत।

१—परतन्त्र बनाकर तुम्हारा सर्वस्व अपहरण करनेवाले प्रमादको छोड़ो, उठो और जागो। तथा प्रत्येक कार्यमें उपयोग को लगाओ।

२—जहाँतक हो सके अपने सब कार्य अपने ही हाथोसे करनेका प्रयत्न करो, अनुभव करो और परिश्रमद्वारा उसे सफल बनाओ। क्योंकि दूसरेका आश्रय निराशा पैदा करता है।

३—आश्रयदाताओंको यह बात ध्यानमें रखना चाहिये कि जो आदमी आश्रय चाहता है, उसे प्राप्त करनेका उसका अधिकार है।

४—जिसको साहाय्य-प्रदान करनेकी शक्ति प्राप्त है, वह यदि साहाय्य-प्रदान कार्यमें कृपणता करता है, तो वह वास्तवमें ईश्वर का अपराधी है।

५—जिसका चरित्र संसारमे प्रामाणिक नहीं माना जाता, उसका समस्त शास्त्रावलोकन, कला-कौशल और विद्याभ्यास पलाशपुष्पके समान है।

६—अपनेलिये संसारसे हम जैसा व्यवहार चाहते हैं, संसार केलिये हमें वैसा ही व्यवहार करना चाहिये।

७—"हमें क्या ? जो करेगा सो भोगेगा" ऐसे निर्बल विचार तुम्हारी केवल कायरता और स्वार्थान्धताको घोषित करते हैं।

८—किसी जबरदस्त व्यक्तिको अन्यायमें प्रवृत्त होते हुए देखकर भी उसके प्रभाव—धौंसमें आकर अपने स्वतन्त्र विचारों को दबा देना तुम्हारी केवल निर्बलता है।

९—अल्पकालीन अनुभवके आधारपर किसी व्यक्ति विशेषके विषयमें भले-बुरेका मत निश्चित कर डालनेकी आदत अन्तमें अच्छा फल नहीं देती।

१०—अपने दिमागमें हमेशा ऐसा मसाला संगृहीत रखना चाहिये कि जिसे सुननेवाला व्यक्ति मुखसे निकलते ही तत्काल ग्रहण कर सके या कमसे कम प्रेमपूर्वक सुन सके।

११—आवश्यकीय कार्योंकेलिये जितना द्रव्य आवश्यक हो उतनेहीमें मनुष्यको सन्तुष्ट रहना चाहिये। नहीं तो मौज शौक़के लिये तो सारे ससारका भी द्रव्य थोड़ा है।

१२—सन्तोष, करोड़ोंकी क़ीमतका 'कोहनूर' हीरा है। सहस्रों अभिलाषाओंके बदलेमें एक 'सन्तोष'को खरीदना बड़ी बुद्धिमानी का सौदा है।

१३—सज्जनताका दावा करनेवाले यदि सज्जनतासे लेशमात्र भी हट जाते हैं तो वे सज्जनताको कलङ्कित करते हैं।

१४—कुटिल-कुल्हाड़ी अपनी तीक्ष्ण धारसे चन्दन वृक्षको काट डालनेका निन्द्य कार्य्य करती है तो भी उदार-चेता चन्दन-वृक्ष तो उसके मुखको अपनी सुगन्धसे सुगन्धित ही करता है। सज्जन बननेवालोंको यह उदाहरण हमेशा ध्यानमें रखना चाहिये।

१५—मनुष्यको इतना मीठा भी न बनना चाहिये कि जिससे उसे कोई शर्बतकी भाँति पी जाय और इतना कड़वा भी न बनना चाहिये कि जिससे उसे कोई कुटकी समझकर थूक दे।

१६—विवेक सहित जितनी स्वतन्त्रता है उतना ही सुख है और जितनी परतन्त्रता है उतना ही दुःख है।

१७—जहाँतक हो सके मनुष्योंको किसीके साथ शत्रुता कभी करनी न चाहिये और कदाचित् हो भी जाय तो "यह मेरा शत्रु है या मैं उसका शत्रु हूँ" यह किसीसे कहना न चाहिये।

१८—लोकापवादके भयसे अपना या अपने आश्रितोंका अकल्याण हो जाने देना, हृदयकी नितान्त निर्बलता है।

१९—निन्दाके कर्मोंसे हमेशा डरते रहना चाहिये लेकिन अज्ञानियोंकी निन्दासे नहीं। केवल सत्यासत्यका विचार करके यदि अपनी भूल हो तो उसे सुधार लेना चाहिये।

२०—जहाँतक हो सके सत्यप्रिय और न्यायशील बननेका प्रयत्न करना चाहिये और सत्य पुरुषोंके जीवन-चरित्रको सदा स्मरणमें रखना चाहिये।

२१—किसी भी सत्पुरुषको ढूँढकर उससे धर्मका यथार्थ स्वरूप समझो और उसके वचनोंमे श्रद्धा रक्खो।

२२—किसी भी आधि-व्याधि-उपाधिकी ज्वालासे झुलस जाने के बाद पश्चात्ताप या रञ्ज करना जलेपर नमक लगाना है। उसको शान्त करनेकेलिये तो हिम्मत बाँधकर उसका उपाय ढूँढ़ना चाहिये और शान्तिरूपी जलका प्रयोग करना चाहिये।

२३—हमेशा नम्रीभूत रहना, हित करना और परोपकार करना, इसमें अपना हित गुप्त रूपसे समाविष्ट है।

२४—जो बात सत्यरूप जँच रही हो वह भी कभी-कभी असत्य सिद्ध हुई है। और जो बात कभी असत्यरूप जँच रही हो वह अनेक बार सत्य साबित हुई है। सत्यासत्यके परीक्षक महाशयों को यह बात सदा ध्यानमें रखना चाहिये।

२५—अपनी प्रशसा करना या कराना, इससे तो यही अच्छा है कि अपनेमें गुण प्रकट करनेका प्रयत्न मनुष्य करता रहे। जिससे कि यथेष्ट सुन्दर सुवासका प्रसाद संसारमें हो।

२६—याद रक्खो कि जैसा विचार तुम करोगे, पुद्गल-कर्म वैसे ही सचित होंगे और वैसा ही बन्ध पड़ेगा। अर्थात् हम अपने जैसे विचार करेंगे वैसे ही बनेंगे।

२७—भले या बुरे, जैसे भी वातावरणमें हम रहेंगे उसका असर हमपर अवश्य होगा। इसलिये उत्तम पुरुष बननेके अभिलाषी पुरुषोंको हमेशा सत्समागममें ही रहना चाहिये। यदि कदाचित् सत्समागम न मिले तो अकेला ही रहे, परन्तु असत्समागम में दुष्ट-हृदयमेंसे निकली हुई दुर्गन्धिमें कभी भी न ठहरे।

२८—चश्मेका रङ्ग जैसा होता है, पदार्थका रङ्ग वैसा ही दीख पड़ता है। इसी नियमके अनुसार जैसी दृष्टि होगी सामने वाला व्यक्ति वैसा ही समझमें आयेगा। समदृष्टिवाला पुरुष परपदार्थको समस्थितिमें देखेगा और विषमदृष्टिवाला पुरुष परपदार्थमें विषमता का ही अनुभव करेगा।

२९—करोड़ों रुपयोंको खर्चनेसे भी जो यश पुरुषके हाथ नहीं आता, वह यश बिना द्रव्य खर्च किये केवल सामायिकतासे प्राप्त होता है।

३०—अपनेसे अल्पधनिकोंको देखकर असन्तोषको और अपने से विशेष सम्पत्तिशालियोंको देखकर मदको छोड़ना चाहिये।

३१—समर्थ पुरुषोंकी आभूषणरूप सहनशीलताको अपनाना तो चाहिये लेकिन इतना नहीं कि दुष्टोंको अपनी दुष्टताके बढ़ाने का अवसर मिले।

३२—आत्मिक अभ्युदयके विषयमें असन्तोषी और विषयासक्तिके विषयमें सन्तोषी रहना चाहिये।

३३—अन्यायपूर्वक उपार्जित सम्पत्तिसे विशेष ऐश-आराम भोगनेकी अपेक्षा न्यायपूर्वक उपार्जित धनसे मामूली भोजन और सादा कपड़े पहरना अधिक श्रेष्ठ और सुखमय हैं।

३४—रातको सोते समय दिनभरका हिसाब लगाना चाहिये कि आज हमने क्या-क्या लाभ किया और क्या-क्या नुकसान।

३५—विपत्तिके समय धैर्य कभी भी न छोड़ना चाहिये। बल्कि आश्वासन रखना चाहिये। और यह समझकर कि सुख-दुःख सबोंके ऊपर आते हैं और जाते हैं; सृष्टिमें प्रलय तक होजाती है हिम्मत बनाये रखना चाहिये।

३६—जो बातें आज नगण्य या महत्त्वपूर्ण समझी जाती हैं

कल वे ही मामूली बातें हो जाती हैं। और उस समयकी डाँवा-डोल स्थितिपर तो अपनेको हँसी आती है।

३७—ज़रासी भूलको जो व्यक्ति लापरवाही कर देता है, वह किसी समय बडी बड़ी भूलें करनेका आदी बन जाता है।

३८—जहाँ तक हो सके अप्रिय, कठोर, हिंसक, दोषयुक्त, पीडाकारक, अतिसाहसद्योतक, मर्मभेदी और अविवेकपूर्ण वचन मनुष्य न बोले।

३९—कृतघ्नता और विश्वासघात जैसे अघोर कृत्य तो मनुष्य प्राणान्त परिस्थितिके आजानेपर भी न करे।

४०—जिस बातको कि हम चाहते हैं उसके सोचनेकी माला फेरते रहनेकी अपेक्षा उसके प्राप्त करनेके उद्यममें लग जाना श्रेयस्कर है।

४१—जैसा मनुष्य हो, जैसा समय हो, और जैसी अपनी योग्यता हो, वैसी ही बात कहनी चाहिये और वैसा ही व्यवहार करना चाहिये। ताकि पीछेसे पछताना न पडे।

४२—पठित पाठको फेरकर ताजा करना नये पाठ पढ़नेके बराबर है।

४३—अपनी कीर्तिको भस्मसात् करनेवाली अनिष्ट ईर्ष्यारूप अग्निकी मनुष्यको पूरी सँभाल रखना चाहिये। दूसरोंके उत्कर्षको देखकर वैसा बननेके लिये मनुष्यको स्पर्धा अवश्य करना चाहिये, ईर्ष्या नहीं।

४४—जो कार्य करना हो, उसके करनेमें प्रमाद न करना चाहिये। सदुद्यमी, विवेकी और विचारशील बननेके लिये प्रयत्नशील होना चाहिये और अनुभवियों द्वारा लिखी गई नीतिमय और ज्ञानमय नई-नई पुस्तकोंके पढ़नेका शौक़ रखना चाहिये।

४५—अपने जीवनमें स्मरण रखने योग्य घटनाओंको डायरी में नोट अवश्य करना चाहिये ताकि भविष्यमें अपने तथा परिवार के लिये उपयोगी सिद्ध हो।

४६—दूसरोंके किसी सद्गुणको, अभ्युदयको या किसी प्रकारके लाभको देखकर कुढ़ न जाना चाहिये, बल्कि प्रसन्नता धारण करनी चाहिये और मनको वैसी होनेकी आदत डालनी चाहिये।

४७—'मेरा है। इसलिये सत्य है' इस मान्यताकी अपेक्षा 'जहाँ जितना सत्य है, उतना सब मेरा है।' यह मान्यता श्रेष्ठ है।

४८—ब्रह्मचर्य सरीखे कोहनूरकी रक्षा करनेकेलिये महावीर प्रभुने जो नौ बाड़ें बतलाई हैं, ब्रह्मचर्यकी आवश्यकतावालोंको उन्हें अवश्य पालना चाहिये।

४९—ऊँची ऊँची और सफाईदार बातोंके बनानेवालोंकी अपेक्षा ऊँचे चरित्रको पालनेवाले—ऊँचा व्यवहार—बर्ताव करनेवाले व्यक्ति दूसरे व्यक्तिके हृदयपर बहुत जल्दी और गहरा प्रभाव डाल सकते हैं।

५०—जो मनुष्य माता, पिता, भाई, कुटुम्ब, राजा, प्रजा, गुरु, धर्म और देव आदिके प्रति अपने जो-जो कर्तव्य हैं, उन्हें पहचानता है और उनको पालनेका यथाशक्ति प्रयत्न करता है, संसारमें वह सुखी रहता है।

५१—जो पढ़ो जो सुनो और जो जो देखो, उसमें सारको ग्रहण करने और निस्सारको छोड़नेकी आदत डालो।

५२—निर्बल—अशक्त, लाचार या सहायताकी जिसे आवश्यकता हो उस व्यक्तिको अपनी शक्ति अनुसार सहायता करनेमें कभी भूल न करना चाहिये।

५३—किसी भी प्रकारके भूल भरे हुए विचारोंसे मुक्त होना मानो परितापोत्पादक परतन्त्रतासे मुक्त होना है।

५४—एक विद्वान्‌का कहना है कि संपत्ति प्राप्त करने और उत्तम बननेका मुख्य साधन मितव्ययता है। यह समझदारीकी पुत्री, मिताहारकी बहिन और स्वतन्त्रताकी माता है।

५५—मितव्ययताके साथ उचित स्थानपर उदारताका होना भी न्याय्य है। क्योंकि उदारताके बिना मितव्ययता लोभ और मितव्ययताके बिना उदारता उड़ाऊपन गिना जाता है।

५६—अनेक कार्योंको आरम्भ करके उन्हें अधूरा छोड़ देनेकी अपेक्षा एक सत्कार्यको आरम्भ करके उसे पूरा करना कहीं अच्छा है।

५७—याद रखना चाहिये कि पवित्र कार्योंके उद्यमसे डरनेवाले व्यक्तियोंका भाग्योदय उनसे डरता है और सदैव दूर ही रहता है।

५८—आलस्यके भक्तोंकी दारिद्रय डटकर सेवा करता है।

५९—आलस्यकी टकशालमें कम्बख्तीके सिक्के ढलते हैं जो कि दरिद्रताकी दुकानोंपर चलाये जाते हैं।

६०—आलसी मनुष्य अनजनमें अनेक दुर्व्यसनोंका शिकार बनता है।

६१—आपत्तियाँ मनुष्यकी शिक्षक हैं और समय आनेपर परीक्षक भी हैं।

६२—कार्यमें अव्यवस्था रखनेवाला व्यक्ति समयकी तङ्गीकी हमेशा शिकायत करता रहता है।

६३—विद्याभ्यास, तरुण अवस्थामें पोषण, वृद्ध अवस्थामें आनन्द, सम्पत्तिमें शृङ्गार और आपत्तिमें दिलासा देता है।

६४—अग्निसे सोनेकी, सोनेसे स्त्रीकी और स्त्रीसे पुरुषकी परीक्षा होती है।

६५—तुम अपनी प्रजाको यदि उत्तम बनाना चाहते हो तो पहले स्वयं उत्तम आचरण पालो।

६६—अनुचित कार्य कभी भी न करना चाहिये। क्योंकि अपने अनुचित कार्योंपर लोग हँसते हैं और अपनेको बड़ा पश्चाताप होता है।

६७—युवा अवस्थाके मनुष्यको अपनी माता बहिन या युवती पुत्रीके साथ भी कभी भी एकान्तमें न बैठना चाहिये।

६८—दूसरोंके साथ अन्याय करके तुम अपने लिये न्यायकी आशा रक्खो तो वह कहाँसे पूरी हो सकती है ?

६९—उच्चपद प्राप्त करनेके पहले यह बात ध्यानमें रखना चाहिये कि अपने ऊपर उत्तरदायित्व भी उसीके अनुसार आ पड़ता है।

७०—किसी भी कार्यका भार अपने सिरपर लेनेके पहले उसके योग्य योग्यता प्राप्त कर लेना चाहिये। नहीं तो पीछेसे बड़ी भारी गभराहट पैदा हो जाती है और पछिताना पड़ता है।

७१—अपने गुरुओंका गाना या गवाना अपनी इज्जतमें बट्टा लगाना है।

७२—दूसरेका सम्मान तुम करो, तुम्हारा सम्मान वह स्वयं करेगा।

७३—कांसेकी भाँति सुवर्ण जैसे आवाज नहीं करता वैसे ही छोटे आदमियोंकी भाँति बड़े आदमी कभी भी अपने मुखसे अपने गुणोंका बखान नहीं करते।

७४—मुंह औरत मुंह पड़ौसी और मुंह सन्तान, ये तीनों प्रकुपित न हों इस बातका पूरा ख्याल रखना चाहिये।

७५—अत्याचार—ज़ुल्म करके प्राप्त किया हुआ फ़ायदा फ़ायदा नहीं है। बल्कि ज़बरदस्त नुक़सान है।

७६—समझदार आदमीका अटकलपच्चू कहना मूर्ख मनुष्यका विश्वास दिलाते हुए कहनेकी अपेक्षा अधिक प्रामाणिक है। इसलिये कहनेवाले व्यक्तिका पहले ध्यान रखना चाहिये कि वह कौन है ?

७७—मूर्ख मनुष्य समझदारोंसे जितना ज्ञान प्राप्त करता है, समझदार मूर्खसे उससे कहीं अधिक ज्ञान प्राप्त करता है।

७८—अनेक बातोंका अधूरा ज्ञान प्राप्त करनेकी अपेक्षा एक बातका पूरा ज्ञान संपादन करना अधिक उत्तम है।

७९—मूर्ख मनुष्य खान-पानकी मौज-शौक़केलिये जीवन व्यतीत कर डालते हैं और समझदार आदमी जीवन निर्वाहकेलिये खान-पान करते हैं।

८०—जिस बातका आक्षेप हम दूसरोंपर करते हैं, वह ऐब हममें है या नहीं, इसका पहले विचार कर लेना चाहिये।

८१—वचन देनेकी उतावलकी अपेक्षा वचन पालनेकी उतावल करना अधिक श्रेष्ठ है।

८२—अनुभवरहित ज्ञान और परिश्रमरहित पैसा दुःख दूर करने और सुख सपादन करनेमें असमर्थ है।

८३—शारीरिक यन्त्रको नीरोग रखनेके ज्ञानके बिना व्यावहारिक समस्त ज्ञान अकार्यकारी है।

८४—विद्याभ्यास करो तो आरोग्य रहनेकी विद्या पहले सीख लेना।

८५—याद रक्खो, आनन्दी दिल, वैद्योंकी आजीविकाको खोता है।

६४—अग्निसे सोनेकी, सोनेसे स्त्रीकी और स्त्रीसे पुरुषकी परीक्षा होती है।

६५—तुम अपनी प्रजाको यदि उत्तम बनाना चाहते हो तो पहले स्वयं उत्तम आचरण पालो।

६६—अनुचित कार्य कभी भी न करना चाहिये। क्योंकि अपने अनुचित कार्योंपर लोग हँसते हैं और अपनेको बड़ा पश्चात्ताप होता है।

६७—युवा अवस्थाके मनुष्यको अपनी माता, बहिन या युवती पुत्रीके साथ भी कभी भी एकान्तमें न बैठना चाहिये।

६८—दूसरोंके साथ अन्याय करके तुम अपने लिये न्यायकी आशा रक्खो तो वह कहाँसे पूरी हो सकती है?

६९—उच्चपद प्राप्त करनेके पहले यह बात ध्यानमें रखना चाहिये कि अपने ऊपर उत्तरदायित्व भी उसीके अनुसार आ पड़ता है।

७०—किसी भी कार्यका भार अपने सिरपर लेनेके पहले उसके योग्य योग्यता प्राप्त कर लेना चाहिये। नहीं तो पीछेसे बड़ी भारी गभराहट पैदा हो जाती है और पछिताना पड़ता है।

७१—अपने गुणोंका गाना या गवाना अपनी इज्जतमें बट्टा लगाना है।

७२—दूसरेका सम्मान तुम करो, तुम्हारा सम्मान वह स्वयं करेगा।

७३—काँसेकी भाँति सुवर्ण जैसे आवाज नहीं करता वैसे ही ओछे आदमियोंकी भाँति बड़े आदमी कभी भी अपने मुखसे अपने गुणोंका बखान नहीं करते।

७४—मुंह भौरत मुंह पड़ौसी और मुंह सन्तान, ये तीनों प्रकुपित न हों, इस बातका पूरा ख्याल रखना चाहिये।

प्रगट नहीं करता, दूसरोंकी हँसी या तिरस्कारके भावको मनमें दबाकर रखता है, मरण पर्यन्त भी अपनी लाचारी दूसरोंसे नहीं कहता, मामूली बातोंपर लक्ष्य नहीं देता तथा अपने हृदयमें भय, उतावलापन, निराशा, अविश्वास, चिन्ता सरीखे शत्रुओंको स्थान नहीं देता।

१००—मनुष्य जिस समय सुखमें होता है उस समय वह अपनेको औरोंसे उत्तम समझता है और जिस समय दुःखमें होता है उस समय वह अपनेको औरोंसे अधम समझता है।

१०१—उत्तमोत्तम और अधमाधम पुरुष भी समयान्तरमें अवस्थान्तरको प्राप्त हो जाते हैं। इसलिये मनुष्यकी क़ीमत बहुत विचारके बाद आँकना चाहिये।

१०२—क्रोधमें आकर काँटेमें चलनेकी मूर्खता न करना।

१०३—वृद्धावस्थामें जो सुख दुःख प्राप्त होते हैं वह अपनी युवावस्थाका फल है।

१०४—अदेखा और ईर्ष्यालु मनुष्यकी बराबर अपना नुक़सान करनेवाला शायद ही कोई हो।

१०५—कुविचार और कुवासनाओंका हमेशा सेवन करनेवाला पुरुष कुछ समयके बाद अवश्य पतित हो जाता है।

१०६—अपनी घड़ीकी तरह अपनी विद्वत्ताको हमेशा अपनी जेबके भीतर छिपाकर रखना चाहिये। दिखानेके लिये बाहिर मत निकालना। कितने बजे हैं ? यदि यह कोई पूँछे तो बता देना परन्तु पहरेदारकी तरह बिना पूछे ही—बार २ घन्टे-घन्टे भरके पीछे बतानेकी आदत मत डालना।

१०७—मूर्खोंकी मूर्खता संसारमें प्रसिद्ध हो जाती है और वह स्वयं उससे अपरचित रहता है। और समझदारोंकी मूर्खता जगजाहिर नहीं हो पाती और स्वयं वे उसे जान लेते हैं।

८६—हरएक शारीरिक व्याधि अपनी ही भूलका फल है।

८७—स्वतन्त्र प्राप्त करते हुए कहीं स्वच्छन्दी मत बन जाना इसका ख्याल रखना।

८८—विशुद्ध प्रेम प्राप्त करते हुए कहीं मोहमें मत फँस जाना इसका ख्याल रखना।

८९—कुबुद्धिरूप बकरेको निकालते हुए कहीं अभिमानरूप ऊँट भीतर न घुस बैठे, इसका ख्याल रखना।

९०—जिसमें छूटो, उसमें उत्तरदायित्व कितना है? यह पहले विचार कर लेना।

९१—गर्व अन्धाकरणका उतरता हुआ ताप है।

९२—सत्यको साक्षी या सौगन्ध, किसीकी भी आवश्यकता नहीं पड़ती।

९३—अहम् निर्बल आत्माओंमें धर्मका स्थान भोगता है।

९४—हजारों उपदेश सुनने या हजारों पुस्तक पाँचनेकी अपेक्षा उनमेंसे थोड़ेसे वाक्योंको भली-भाँति विचारना अधिक उत्तम है।

९५—संसारके समस्त प्राणियोंको यदि अपना बनाना हो तो उनसे अमित्रभाव दूर करदो।

९६—उद्योगी घरमें भूख झाँकती है, पर पैठ नहीं पाती।

९७—उद्यमके बिना सुधारके मार्गमें एक डग भी नहीं भरी जा सकती और न आज तक कभी भी भरी गई।

९८—रंज-गंज करके पीछेसे पछिताना अविचारका फल है।

९९—जिस मनुष्यमें वास्तविक सत्त्व होता है, वह दूसरोंका अहित कभी नहीं करता, अपने स्वभावको बदलता नहीं है, अपनी अन्तरङ्ग बात किसीसे कहता नहीं है, किसीके साथ अपना वैर-भाव

प्रगट नहीं करता, दूसरोंकी हँसी या तिरस्कारके भावको मनमें दबाकर रखता है, मरण पर्यन्त भी अपनी लाचारी दूसरोंसे नहीं कहता, मामूली बातोंपर लक्ष्य नहीं देता तथा अपने हृदयमें भय, उतावलापन, निराशा, अविश्वास, चिन्ता सरीखे शत्रुओंको स्थान नहीं देता।

१००—मनुष्य जिस समय सुखमें होता है उस समय वह अपनेको औरोंसे उत्तम समझता है और जिस समय दुःखमें होता है उस समय वह अपनेको औरोंसे अधम समझता है।

१०१—उत्तमोत्तम और अधमाधम पुरुष भी समयान्तरमें अवस्थान्तरको प्राप्त हो जाते हैं। इसलिये मनुष्यकी क़ीमत बहुत विचारके बाद आँकना चाहिये।

१०२—क्रोधमें आकर काँटेमें चलनेकी मूर्खता न करना।

१०३—वृद्धावस्थामें जो सुख दुःख प्राप्त होते हैं वह अपनी युवावस्थाका फल है।

१०४—अदेखा और ईर्ष्यालु मनुष्यकी बराबर अपना नुक़-सान करनेवाला शायद ही कोई हो।

१०५—कुविचार और कुवासनाओंका हमेशा सेवन करने वाला पुरुष कुछ समयके बाद अवश्य पतित हो जाता है।

१०६—अपनी घड़ीकी तरह अपनी विद्वत्ताको हमेशा अपनी जेबके भीतर छिपाकर रखना चाहिये। दिखानेके लिये बाहिर मत निकालना। कितने बजे हैं? यदि यह कोई पूँछे तो बता देना परन्तु पहरेदारकी तरह बिना पूछे ही—बार २ घन्टे-घन्टे भरके पीछे बतानेकी आदत मत डालना।

१०७—मूर्खोंकी मूर्खता ससारमें प्रसिद्ध हो जाती है और वह स्वयं उससे अपरचित रहता है। और समझदारोंकी मूर्खता जग-जाहिर नहीं हो पाती और स्वयं वे उसे जान लेते हैं।

१०८—समझने योग्य बातोंको समझ लो, देखने योग्य कार्यो को देख लो, करने योग्य कार्योंको कर डालो, ठहरने योग्य स्थान में ठहरो और अनुभव करने योग्य कार्योंका, चाहे जितनी जोखम उठानी पड़े अनुभव करलो क्योंकि बार-बार अनुकूलताओंका मिलना कठिन है। इसलिये पुरुषार्थको प्रगट करके योग्य कार्य्य को फौरन कर डालना चाहिये।

॥ ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

स्मरणीय स्वर्ण वाक्य !

१—नीति ही धर्मका पाया है और सत्य ही धर्मका स्वरूप है।

२—तुम यदि बड़े हो तो बड़ा ही मन रक्खो और बड़े ही कार्य्य कर दिखाओ।

३—"आप बने तो औरको वाको रूप उपार।"

४—मित्रो! सुधारनेमें देर लगती है, बिगाड़नेमें नहीं।

५—दिमागमें जो भरा होगा वही तो बाहर निकलेगा।

६—दयाकी रुचि ऊँचे होनेकी निशानी है।

७—न्यायबुद्धिकी निर्बलता अपने प्रत्येक कार्य्यमें विघ्न उप स्थित करती है।

८—उदारता रहित सम्पत्ति चैतन्यरहित जीवके बराबर है।

९—दुःखी को दिलासा देना, हिम्मत घटाकर व्याकुलित न करना।

१०—शारीरिक और मानसिक आरोग्यको बिगाड़नेवाले व्य सनोंसे सदा दूर रहना।

११—विचारे हुए कार्य्यको, जबतक वह पूरा न हो जाय किसी से कहना न चाहिये।

१२—जिस कार्य्यके करनेसे अनेक शत्रु उत्पन्न हो जायँ, वह कार्य्य नहीं करना चाहिये।

१३—वास्तविक शोभा बढ़ानी हो तो सदाचारी और सुशील बनो।

१४—हरएक मनुष्यको हितवर्धक नियमका हिमायती होना चाहिये।

१५—"विद्या कबहूँ न छोड़िये, यदपि नीच पै होय।"

१६—यदि तुम्हें जगत्प्रिय होना हो तो सबको अमृतकी निगाह से देखो।

१७—जीवन सफल करना हो तो कर्तव्यपरायण बनो।

१८—विचार कर बोलो और जो बोलो उसे करो।

१९—विनय ही वशीकरण मन्त्र है।

२०—खराब विचार करना जहर पीनेके बराबर है।

२१—पवित्र विचार करना अमृत पीनेके बराबर है।

२२—धर्म करो जिसका प्रत्यक्ष फल दीखे।

२३—मित्रो! निद्राका समय गया, अब जगो।

२४—समझ गये हो तो अपने वर्तावको सुधारो।

२५—एक दिन यकायक मर जाना है।

२६—अपने सुख-दुःखके कर्त्ता हमी हैं।

२७—इस तरह जिओ कि जिससे मरण सुधरे।

२८—यदि विजयाभिलाषा है तो प्रामाणिक बनो।

२९—बोलना आता है। क्या वैसा करना भी आता है?

३०—बातें ही बनाओगे या कुछ करके भी दिखाओगे।

३१—अभयदान देना निर्भयता प्राप्त करना है।

३२—"बिना विचारे जो करे सो पाछे पछिताय।"

३३—अविद्या सम्पूर्ण दोषोको जानती है।

३४—ससारके स्वरूपको यथार्थ देखना सीखो।

१०८—समझने योग्य बातोंको समझ लो, देखने योग्य कर्मों को देख लो, करने योग्य कामोंको कर डालो, ठहरने योग्य स्थान में ठहरो और अनुभव करने योग्य कामोंका, चाहे जितनी जोखम उठानी पड़े अनुभव करलो क्योंकि बार-बार अनुकूलताओंका मिलना कठिन है। इसलिये पुरुषार्थको प्रगट करके योग्य कार्य्यों को फौरन कर डालना चाहिये।

॥ ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

स्मरणीय रत्न वाक्य !

१—नीति ही धर्मका पाया है और सत्य ही धर्मका स्वरूप है।

२—तुम यदि बड़े हो तो बड़ा ही मन रक्खो और बड़े ही कार्य्य कर दिखाओ।

३—"खाड़ खने जो औरको ताको कूप तयार।"

४—मित्रो! सुधारमें देर लगती है, बिगाड़नेमें नहीं।

५—विभागमें जो भरा होगा वही तो बाहर निकलेगा।

६—दयाकी रुचि ऊँचे होनेकी निशानी है।

७—न्यायबुद्धिकी निर्बलता अपने प्रत्येक कार्य्यमें विघ्न रूप स्थित करती है।

८—उदारता रहित सम्पत्ति वैराग्यरहित जीवके बराबर है।

९—दुःखी को दिलासा देना, हिम्मत बढ़ाकर व्याकुलित न करना।

१०—शारीरिक और मानसिक आरोग्यको बिगाड़नेवाले व्य सनोंसे सदा दूर रहना।

११—विचारे हुए कार्य्यको, जबतक वह पूरा न हो जाय किसी से कहना न चाहिये।

१२—जिस कार्य्यके करनेसे अनेक शत्रु उत्पन्न हो जायँ, वह कार्य्य नहीं करना चाहिये।

१३—वास्तविक शोभा बढानी हो तो सदाचारी और सुशील बनो।

१४—हरएक मनुष्यको हितवर्धक नियमका हिमायती होना चाहिये।

१५—"विद्या कबहुँ न छोडिये, यदपि नीच पै होय।"

१६—यदि तुम्हें जगत्प्रिय होना हो तो सबको अमृतकी निगाह से देखो।

१७—जीवन सफल करना हो तो कर्तव्यपरायण बनो।

१८—विचार कर बोलो और जो बोलो उसे करो।

१९—विनय ही वशीकरण मन्त्र है।

२०—खराब विचार करना जहर पीनेके बराबर है।

२१—पवित्र विचार करना अमृत पीनेके बराबर है।

२२—धर्म करो जिसका प्रत्यक्ष फल दीखे।

२३—मित्रो! निद्राका समय गया, अब जगो।

२४—समझ गये हो तो अपने वर्तावको सुधारो।

२५—एक दिन यक्कायक मर जाना है।

२६—अपने सुख-दुःखके कर्त्ता हमी हैं।

२७—इस तरह जिओ कि जिससे मरण सुधरे।

२८—यदि विजयाभिलाषा है तो प्रामाणिक बनो।

२९—बोलना आता है। क्या वैसा करना भी आता है?

३०—बातें ही बनाओगे या कुछ करके भी दिखाओगे।

३१—अभयदान देना निर्भयता प्राप्त करना है

३२—"विना विचारे जो करे सो पाछे[illegible]

३३—अविद्या सम्पूर्ण दोषोंको जानत[illegible]

३४—ससारके स्वरूपको यथार्थ [illegible]

३५—सुख अपने सत्प्रयत्नोंका इनाम है।

३६—भाग्य अपने पूर्व प्रयत्नोंका इनाम है।

३७—माता और अन्तरात्माकी शुद्धिको ध्यान देकर सुरक्षित रक्खो।

३८—जितना गुड़ डालोगे, उतना ही मीठा होगा।

३९—यदि श्रेयोभिलाषा है तो सद्गुणी बनो।

४०—जो पुण्य करो उसे कहो मत।

४१—जहाँ रहो उस स्थानको भली भाँति जाँच लो।

४२—यह ध्यानमें रखना कि मेरा बालमरण न हो।

४३—दुःख अपनी ही भूलका ब्याज है।

४४—हरएक मनुष्यको अपना वैद्य आप ही बनना चाहिये।

४५—हरएक मनुष्यको अपना गुरु आप ही बनना चाहिये।

४६—विचारते रहो कि क्या-क्या कमाया।

४७—कहाँसे आये हो? और कहाँ जाओगे।

४८—भाई! जमा और उधार देखते रहना।

४९—वचन बोलनेमें तो दरिद्री मत बनो।

५०—स्वधर्मकी भली भाँति सेवा करो।

आत्माकेलिये सुमतिका उपदेश।

दुर्मतिके संसर्गसे शोक सागरमें गोते खाते हुए निस्तेज आत्मा को सुमति उसके स्वरूपका भान कराती है—

हे नाथ! डरनेका कोई कारण नहीं है। जिससे आप डर रहे हो, वे सिर्फ आपकी कल्पनाजन्य दृश्य हैं। इस विश्वमें आपसे अधिक कोई चीज नहीं है। मैं निर्बल हूँ, कंगाल हूँ, दुःखी हूँ परतन्त्र हूँ, पामर हूँ ऐसे विचार आपकी भूलभरी मान्यताके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। हे प्रभो! आप भयभीत न हों।

आप पामर नहीं हैं। अपनी भूल सुधार लेनेपर अपनी अनन्त सामर्थ्यकी प्रतीति आपको प्रत्यक्ष हो जायगी। लाचार होकर निष्क्रिय होजाना आप सरीखे वीर्यवान् व्यक्तिकेलिये बड़ी लज्जा की बात है। दुर्मतिके संसर्गसे आप अपने प्रचण्ड शौर्यको केवल भूल गये हैं। आप एक अनन्त प्रकाशमान् पदार्थ होते हुए भी जड़के संसर्गसे इस समय अन्धकारमय बन गये हैं। हे आत्म सूर्य! आपकी प्रभा मात्रसे जो अन्धकार अदृश्य—विलीन हो जाता है, आज वह आपपर ही अपना साम्राज्य जमाये हुए हैं। इसका कारण केवल यही है कि आपको अपनी शक्तिका विश्वास नहीं है। हाड़-मांस-चाम-रुधिरमय शरीरयन्त्रमें बद्ध होकर आप मर्यादित शक्ति प्रतीत होते हो तो भी हे नाथ! आपको अपने पुरुषार्थसे समस्त संसारका साम्राज्य प्राप्त करना कुछ कठिन नहीं है। अरे आनन्द घन! मरना और जीना आपका वास्तविक स्व-भाव नहीं है। वह तो सिर्फ पतगेकी फिरकनके बराबर है। आपका अनन्त बल भ्रान्तिके काले पर्दोंके भीतर छिपा हुआ है। इसलिये आप पामरसे भी पामर होकर आशाके कीचड़में फँसे हुए हो। मौजूदा मलीन बैठनसे आप अपने स्वरूपका अनुमान न करना। आप गुदड़ीके लाल हो। बैठनसे लभेड़ी हुई वस्तुकी नाप तौल नहीं हो सकती। हे स्वरूपानन्द! आप अपने स्वरूपकी ओर लक्ष्य करो। जड़के स्वभावको आप अपना स्वभाव समझ रहे। और इसीलिये आप अपना नाश मान लेते हो। जड़के गुणों आपने जो अपनेमें आरोपण कर रक्खा है, यह उसीका तो प णाम है। आप भेड़-बकरी नहीं हो, बल्कि ठाकुर हो। आप कि के तावेदार या वेचने योग्य वस्तु नहीं हो, बल्कि सबके अधि हो। आप सरीखे अजर-अमरका मरण—पराभव कर ही सकता। अरे अमरका मरना क्या? अखण्डका खण्ड कौन सकता है? आनन्द स्वरूपको शोक कैसा? जो समग्र वि

आनन्दका खजाना है लेकिन अन्तर्मुख किये बिना उस अलौकिक खजानेका अनुभव तुझे कभी होनेका नहीं है। व्यावहारिक बोझके कारण थकेहुए अपने शरीरको सद्गुरुके वचनामृतसे पुष्ट कर। अपनी चञ्चलताको छोड़कर क्षणभरके लिये तू तत्त्वकमलके अपूर्व रसका आस्वादन कर। भिन्न-भिन्न पदार्थोंमें तू विश्रामपूर्वक घुसा, घुस रहा है और घुसेगा, व सब अन्तमें निराशाजनक हैं। यह सिद्धान्त सर्वस्व अनुभवियोंका है। इसलिये थोड़ी देरके लिये तू विश्राम ग्रहण कर, बाह्य-चेष्टाओंसे दूर हो और अन्तर्मुखी वृत्तिसे सोच कि—

हरिगीतिका।

मैं कौन हूँ ? ये कौन हैं ?
निजरूप किस विधि आचरूँ ?
हैं कर्म बन्धक किस वजहसे ?
किस तरह इनको हरूँ ॥१॥
करना पड़े नहिं कार्य्य फिरसे
कार्य्य ऐसा मैं करूँ ?
जन्मना मरना पड़े नहिं—
पुनः, उस विधिसे मरूँ ॥२॥
यह स्वप्न है या सत्य है ?
निश्चय इसे कैसे करूँ।
दुख काल्पनिक ही है अगर तो
किसलिये इससे डरूँ ॥३॥
यदि जीव मरता है नहीं तो,
किस तरहसे मैं मरूँ ?
होता प्रगट स्ववस्तुका बस
ध्यान मैं ऐसा धरूँ ॥४॥

इन पद्योंका बार-बार उच्चारण करके पवित्र विचारोंसे चित्त को स्वस्थ कर रात्रिको शयन करनेसे पेश्तर पापसे पीछे हटनेके लिये उपरितन वाक्योंसे चित्तको शान्त करना चाहिये। और स्वीकृत व्रतोंकी ओर ध्यान दौड़ाना चाहिये कि आज दिनभरके किसी व्यावहारिक कार्य्यमें जानते हुए अथवा अजानते हुए विवेकशून्य होकर, मोहविकल होकर, जहरीली वासनासे बेहोश होकर, अज्ञानतासे परतन्त्र होकर, विषय-विह्वल होकर, उपयोगरहित व्रतोंकी विराधना की हो और अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार का मन, वचन, कायसे सेवन किया हो, या कोई अकाल्पनिक अयोग्य कार्य्य मुझसे बन गया अथवा खोटा ध्यान हुआ हो या स्वीकृत सम्यक्त्वपूर्वक व्रतों या उसके नियमोपनियमोंका किसी रीतिसे एक देशसे या सर्व देशसे खण्डन किया हो तो अनन्त सिद्ध भगवान्‌की साक्षीपूर्वक 'मिच्छा मि दुक्कड़'—मेरा पाप मिथ्या हो। हे कृपानिधे! मुझे क्षमा करना। अब मैं यथाशक्य ध्यान रक्खूँगा और अपने व्रतोंका यथाशक्य पालन करूँगा।

इस तरह अपनी भूलोंका पश्चात्ताप करके परमात्माकी साक्षी पूर्वक अपने अपराधोंकी शुद्धान्तःकरणसे क्षमा मांगनी चाहिये। और अगाड़ीकेलिये सावधान रहनेका दृढ़ संकल्प करना चाहिये।

अपने दिनके समस्त कार्योंका सिंहावलोकन करना चाहिये और व्रत यदि निर्दोष पले हों तो प्रसन्न होना चाहिये। तथा हमेशा अपनी जिन्दगीको निर्दोष पालनेकेलिये भावना भानी चाहिये।

स्वीकृत व्रतोंसे भी अधिक शुद्ध बननेकेलिये हमेशा ख्याल रखना चाहिये। क्योंकि हृदयके सत्त्वगुणोंको भी विषमय बनाने वाले, सद्‌गुणोंको भस्मीभूत करनेवाली ईर्ष्याग्नि, स्वरूपको भुला

देनेवाले अभ्यास और प्रतिदिन शुभ कार्यमें परदा डालनेवाले प्रमाद जैसे दुर्गुणोंको हटाये बिना वास्तविक शान्ति, सच्चा आनन्द और अविच्छिन्न सुख प्रगट नहीं हो सकता।

इसलिये निर्दोष बननेकेलिये प्रयत्नशील होना चाहिये और इस पुस्तककी उपयोगी बातें नित्य पढ़नी चाहिये। याद रखना, इस कार्यमें लापरवाही की तो वह करोड़ रुपयोंकी लापरवाही करनेके बराबर होगी।

सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्॥

सुबोध-पद्यावली

१

प्रभुके पास अंतःकरणकी प्रार्थनाएँ

(राग हरिगीति और भैरवी)

हे नाथ ! गहि मम हाथ रहकर साथ मार्ग बताइये ।
बिसरूँ न तुमको अन्ततक भी दिव्य पाठ पढ़ाइये ॥
प्रभु असत कृतिमें मन चले तब सत्य ज्ञान सुनाइये ।
अन्याय पाप हटा-हटा सत्स्वरूपको समझाइये ॥ १
बिगड़े न बुद्धि कुटिल कृत से बोध अस बतलाइये ।
सब ज्ञेय वस्तु ज्ञात हो ऐसा दीया प्रगटाइये ॥
मुझको कुटिल व्यवहारसे दीनबन्धु ! दूर हटाइये ।
प्रभु मम करोंसे जिन्दगीभर सत्य कार्य सजाइये ॥ २
विभु! सत्य, न्याय, दया, विनय जल हृदयमें वर्षा करे ।
सेवा धरमकी लगन प्रतिदिन रोम-रोम रमा करे ॥
परमार्थमें मम शक्तिका दिन-रात योग रहा करे ।
है याचना हे देव ! मम उर प्रेम पूर बहा करे ॥ ३
विश्वास तेरा सब जगह मनमें निरन्तर चाहिये ।
तेरे चरणके शरण रह कर लगन तेरी लगाइये ॥
शम दम तितिक्षा उपरति वैराग्य अधिक बढ़ाइये ।
है 'संत शिष्यकी' प्रार्थना प्रभु ! शीघ्र सब अवधा[illegible]

२

(हरिगीति और भैरवी)

हे नाथ नाथ ! मैं तिमिरसे तुमको न पहिचान सका,
मैं पतितपावन पूर्ण प्रेम स्वरूपको न परख सका।
तुम अमीभरे सत्सूत्रको कुछ मैं श्रवण नहिं कर सका,
मैं हृदयमें संजीवनी तेरी ध्वनी नहिं धर सका ॥ १ ॥
पुनि भजनके उत्तम समय तुमको प्रभो ! नहिं भज सका,
प्रभु ! आपके फरमानको मैं मूर्ख हो न समझ सका।
तेरे शरणकी अभय मङ्गल मौजको नहीं पा सका,
तेरे भजनकी अतुल महिमा समझमें नहिं ला सका ॥ २ ॥
तुमको स्मरण करके कभी रससे नहीं मैं रट सका,
वर्जित किया था विषम पथसे तदपि नहीं मैं हट सका।
पाये अमूल्य सुसाधनोंका सदुपयोग न कर सका,
घट भक्तिके स्वादिष्ट रससे 'संतशिष्य' न भर सका ॥ ३ ॥

३

(भारतका डंका आलममें—तर्ज)

कब होगा प्रभो ! कब होगा, यह दिवस हमारा कब होगा,
हम पतितोंसे अति प्रेम करें, दुश्मन उनपर भी रहम करें।
हम सब जीवोंसे प्रेम करें, यह दिवस·· ···कब होगा ॥१॥
कब ऊँच-नीचका भेद मिटे, धन जन खोनेका खेद मिटे।
मद मत्सर मिथ्या भय मिटे, यह दिवस· ·कब होगा ॥२॥
प्राणीको निज सम पेखेंगे, स्त्रीको माता सम देखेंगे।
लक्ष्मीको मिट्टी लखेंगे यह दिवस·· कब होगा ॥३॥
जग व्यवहारोंको छोड़ेंगे तृष्णाके बन्धन तोड़ेंगे।
जीवन प्रभु संग ही जोड़ेंगे, यह दिवस· ·· कब होगा ॥४॥
सुख देकरके सुख मानेंगे, दुख सह करके सेवा देंगे।
सेवामय जीवन कर लेंगे, यह दिवस·· ·कब होगा ॥५॥

विषयोंको मनसे त्यागेंगे, कुछ नाहीं कृपा विनु माँगेंगे।
हम निशि दिन घटमें जागेंगे, यह दिवस.........कब होगा ॥६॥
हम निज मस्तीमे झूमेंगे, प्रभु पथमें प्रतिदिन घूमेंगे।
'मुनि' बनके लाभ सदा लेंगे, यह दिवस ......कब होगा ॥७॥

४

(राग-बरहंस। श्री जिनमुजने पार उतारो—तर्ज)

महावीर हमको पार उतारो, हमको सेवक रूप स्वीकारो। महा० टेक
भ्रमित होकर भटके भवमें, न कष्टको पायो किनारो।
मोहनी कर्म मूढ़ बनाकर, बुद्धिमें करत बिगारो ॥ महा०-१
सत्य असत्य कछु नहिं जाने, माया करत है मुम्झारो।
भक्तवत्सल तुम भवदुःख भंजन, आश्रित करके उगारो ॥ महा०-२
दुरित वहोतसे दग्ध भये हम, साहेब! हमको सुधारो।
दोषोंकी ओर दृष्टि न दीजे, यही अरज अवधारो ॥ महा०-३
अधम उद्धारक तारक जिनवर! विपत्ति हमारी विदारो।
शुद्ध स्वरूपी सहजानदी, तू ही हमारो सहारो ॥ महा०-४
जैसे तैसे तो भी तुम्हारे, विभु हमको न बिसारो।
'संत शिष्यके' मन मन्दिरमें, पावनहेतु पधारो ॥ महा०-५

५

(राग—भैरवी)

आओ, आओ, आओ, दिलमें यह दीपक प्रगटाओ।
अन्तरयामी आकर मेरे, दिलमें दीप जलाओ ॥ टेक ॥
दर्शन करूँ मैं देव तुम्हारे, ऐसी ज्योति जगाओ।
असीम अँधारेका बेहद, हरि! यह दुःख हटाओ ॥ दिल में ॥
निरख सकूं मैं निजको कायम, येही द्वार खुलाओ,
स्वामी सचा भान कराके, सद्मारग समझाओ ॥ दिल में ॥

प्रेम-प्रेम और शुद्ध प्रेमको यह अन्तर प्रगटाओ।
'सम्यशिष्य' पाऊँ अरमानको, यही कृपा बरसाओ॥ शिव मैं॥

६

(हुं कहुंकयनी मारी माय —ये तर्ज)

आओ, आओ, आओ देव! उद्धारक बन आओ।
मन में बसकर सिखाओ देव! उद्धारक० टेक॥
अंधकार छाया है व्यापिका, दिव्य दीप प्रगटाओ;
जागे सर्व समाज प्रेमसे वैसी नाद गजाओ॥१॥ देव!
शुद्ध बुद्ध भावना है सुनकर, सब ये मन्त्र सुनाओ
निरखें सब निजनिज कर्मोंको, अञ्जन ऐसा लगाओ॥२॥ देव!
ठंढा जीगरको विद्युत वेगसे बोधिक गरम बनाओ
'सम्यशिष्य' यही मांग मुझरो सदैव सुख समाओ॥३॥ देव!

७

(धुनकी तर्ज)

नाथ दीनोंके नाथ प्रभू तुही तुही।
साथ दीनोंके साथ प्रभू तुही तुही॥नाथ०॥टेक॥
तात दीनोंके तात प्रभू तुही तुही।
भ्रात दीनोंके भ्रात प्रभू तुही तुही॥१॥
बाप दीनोंके बाप प्रभू तुही तुही।
मात दीनोंके मात प्रभू तुही तुही॥२॥
प्राण बन्धुके आधार, प्रभू तुही तुही।
निराधारके आधार प्रभू, तुही तुही॥३॥
सभी पामरोंके शरण प्रभू तुही तुही।
सच्चे हीरोंकी खान प्रभू तुही तुही॥४॥

अखूट शान्तिके धाम, प्रभू तूही तूही।
सब हृदयोंके राम प्रभू तूही तूही ॥५॥
है ज्ञाताका ज्ञान प्रभू तूही तूही।
है ध्याताका ध्यान प्रभू तूही तूही ॥६॥
निर्जीवोंका जीव प्रभू तूही तूही।
शान्तिदाता है शिव प्रभू तूही तूही ॥७॥
प्रभू एकमें अनेक रूप तूही तूही।
'सन्त शिष्य'का भी साथ प्रभू तूही तूही ॥८॥

८

(राग—सोरठ। लावनी)

शासन देव दया करि सबकी, दिलका वटन दबावेगा,
परम देवसे यही प्रार्थना, विद्युत वेग बहावेगा ॥शासन०॥१॥
भक्तवीर दाताके दिलमें, आतिश खूब जगावेगा,
ठंडे दिलको गरम बनाके, रग-रग तेज रमावेगा ॥शासन०॥२॥
झगड़ा फिरकोंका हटजावे, रगड़ा सब मिट जावेगा,
समाजका नेता विषरस तज, समरस बीच समावेगा ॥शासन०॥३॥
कदाग्रहोंको काट मूलसे, सरल सरल बन जावेगा,
जीवनका उद्देश्य यथारथ, 'संतशिष्य' फल पावेगा ॥शासन०॥४॥

९

रसायन और पथ्य

(लावनी—अनेक रागोंमें गाई जाती है।)

प्रभुका नाम रसायन सेवत, पुनि यदि पथ्यको खावे ना,
तब उनका फल कभी न पावत, कभी भवरोग मिटावे ना ॥प्रभु०॥१॥
प्रथम पथ्य असत्य न कहना, निन्दा कभी उचरना ना,
परनारीको मातु समुझिके, कभी कुदृष्टि करना ना ॥प्रभु०॥२॥

प्रेम-प्रेम और शुद्ध प्रेमको भेद अन्तर समझाओ।
'सन्तशिष्य' पाऊँ परमप्रभुको, यही कृपा बरसाओ ॥ दिल में ॥

६

(हुं अबूझ्यनी मारी मात !—ये तर्ज)

आओ, आओ, आओ देव ! उद्धारक बन आओ !
अब न विलम्ब बिताओ देव ! उद्धारक० टेक ॥
अंधकार छाया है अधिका दिव्य दीप प्रगटाओ;
जागे सर्व समाज प्रेमसे दैवी भाव गवाओ ॥१॥ देव !
शुद्ध बुद्ध आनन्द है सुनकर, सब ये मन्त्र सुनाओ
निरखें सब निजनिज रूपोंको, अञ्जन ऐसा लगाओ ॥२॥ देव !
ठंडा जीगरको विपुल वेगसे, बोधिक गरम बनाओ;
'सन्तशिष्य' यही महद सुम्मरो, सादैव सुरत मनाओ ॥३॥ देव !

७

(धुनकी तर्ज)

नाथ दीनोंके नाथ प्रभू तूही तूही।
साथ दीनोंके साथ प्रभू तूही तूही ॥नाथ० ॥टेक॥
तात दीनोंके तात प्रभू तूही तूही।
भ्रात दीनोंके भ्रात प्रभू तूही तूही ॥१॥
आस दीनोंके आस प्रभू तूही तूही।
मात दीनोंके मात प्रभू तूही तूही ॥२॥
ज्ञान चक्षुके दातार, प्रभू तूही तूही।
निराधारके आधार प्रभू, तूही तूही ॥३॥
सभी पामरोंके मार्ग प्रभू तूही तूही।
सच्चे हीरोंकी खान प्रभू तूही तूही ॥४॥

११

(राग–पूर्णवत्)

जिनकी आस धरी ढूँढत हैं, पाँव-पाँव धरते प्यारे।
पड़ा पिण्डमें फना फिरत हो, निजसे रञ्च न है न्यारे ॥१॥
नहिं हैं गिरि-कन्दर कोतरपे, नहिं बाग़-बगीचों बनमें।
नहीं हैं नगर मगर मन्दिरमें, तपास कर तू है तनमें ॥२॥
विष-रस बिचमें रक्त भया तू, समरस बीच समाया ना।
शुद्ध रूपसे बुद्ध भयाना, गण्डू केफ गँवाया ना ॥३॥
जबलग मैल रहा घट अन्तर, सद्गुरु भेद बताया ना।
पावे नहिं तब परमज्ञान जब, अन्तरध्यान लगाया ना ॥४॥
भेद अभेद सम्बन्ध भया सो, भेद भर्मका पावेगा।
भेदत भेद अभेद वेदते, अन्तरघट वह आवेगा ॥५॥
जोही ठिकाना लगत भयंकर, सो निर्भय मन लावेगा।
निर्भय स्थल जब लगे भयङ्कर, तब निर्भय पद पावेगा ॥६॥
खेल नहीं है खचित समझना, खेल नहीं है छोरेका।
'संत शिष्य' कहे समझ बिना यह, सभी काम सिरफोरीका ॥७॥

१२

उलटा रास्ता

(राग पूर्णवत्)

अमूल्य मानव तनको पाके, मिट्टी संग मिलाते हैं।
तरनेके सुन्दर साधन सब, डूबनेमें ही लगाते हैं ॥अमूल्य०॥१॥
झूठ-कपट-छ[illegible] निशिदिन, कर-कर ज़रको जमाते हैं।
आख़िर भी [illegible] भी न, अच्छा पुण्य कमाते हैं ॥अमूल्य॥२॥
[illegible] कर, राजसभामें जाते हैं।
धर्मकी [illegible] ी, झगड़ेमें ही उड़ाते हैं ॥अमूल्य॥३॥

सभी जीव आतमसम गिनना, दिल किसीका भी दुखाना ना,
परधन पत्थर समझ-समझके, मन अभिलाष धराना ना ।।प्रभु०।।३।।
दम्भ दर्प अरु दुर्जनतासे, हृदय अशुद्ध करना ना,
कपट दगा अरु प्रपंच जिनको, पलभर भी ठहराना ना ।।प्रभु०।।४।।
मैं प्रभुका प्रभु है मम रक्षक, यह विश्वास गमाना ना,
प्रभु करेंगे सो मम हितका, यह निश्चय बदलाना ना ।।प्रभु०।।५।।
जनसेवा है प्रभुकी सेवा, यही समझ बिसराओ ना,
ऊँच नीचका भेद प्रभु मार्गमें, कभी मचाओ ना ।।प्रभु०।।६।।
शक्ति है सो परमारथसे, पीछे पैर हटाओ ना,
निज स्वारथके कारजमें भी, अधरम लोभ रखाओ ना ।।प्रभु०।।७।।
पथ्य रसायन दोनों सेवो, मायासे ललचाओ ना,
तब तुम्हरे सब ताप कटेंगे, भवसिन्धु भटकाओ ना ।।प्रभु०।।८।।

१०

(राग-पूर्ववत्)

नाम प्रभूका निशिदिन प्यारे हम हरदम रटना चाहिये ।
अपना अवगुण दोष देखके हम हरदम कटना चाहिये ।।१।।
प्राण रहे तब तक मनसे नहिं, अधरम आचरना चाहिये ।
जनसेवा है प्रभुकी सेवा, बात भूलना ना चाहिये ।।२।।
अपने स्वारथकाज किसीका, नाम डुबाना ना चाहिये ।
आप समान समझ किसी जीवके, दिलको दुखाना ना चाहिये।।३।।
रत्न हाथसे छोड़के पत्थर, कभी पकड़ना ना चाहिये ।
अपनी नौका अपने करसे, कभी डुबाना ना चाहिये ।।४।।
अमृतरसको अलग फेंकके, विषरस पीना ना चाहिये ।
धनके पिपासा सब साधनमें, धूल मिलाना ना चाहिये ।।५।।
जो पल जावे सो नहिं आवे, बखत गँवाना ना चाहिये ।
'सत्यशिष्य' भव अन्त करे यदी, कभी भूलना ना चाहिये ।।६।।

११

(राग–पूर्णवत्)

जिनकी आस धरी ढूँढत हैं, पाँव-पाँव धरते प्यारे ।
पड़ा पिण्डमें फना फिरत हो, निजसे रञ्च न है न्यारे ॥१॥
नहिं हैं गिरि-कन्दर कोतरपे, नहिं बाग-बगीचों बनमें ।
नहीं हैं नगर मगर मन्दिरमें, तपास कर तू है तनमें ॥२॥
विष-रस बिचमें रक्त भया तू, समरस बीच समाया ना ।
शुद्ध रूपसे बुद्ध भयाना, गण्डू केफ गँवाया ना ॥३॥
जबलग मैल रहा घट अन्तर, सद्गुरु भेद बताया ना ।
पावे नहिं तब परमज्ञान जब, अन्तरध्यान लगाया ना ॥४॥
भेद अभेद सम्बन्ध भया सो, भेद भर्मका पावेगा ।
भेदत भेद अभेद वेदते, अन्तरघट वह आवेगा ॥५॥
जोही ठिकाना लगत भयंकर, सो निर्भय मन लावेगा ।
निर्भय स्थल जब लगे भयङ्कर, तब निर्भय पद पावेगा ॥६॥
खेल नहीं है खचित समझना, खेल नहीं है छोरेका ।
'संत शिष्य' कहे समझ बिना यह, सभी काम सिरफोरीका ॥७॥

१२

उलटा रास्ता

(राग पूर्णवत्)

अमूल्य मानव तनको पाके, मिट्टी संग मिलाते हैं ।
तरनेके सुन्दर साधन सब, डूबनेमें ही लगाते हैं ॥अमूल्य०॥१॥
झूठ-कपट-छल प्रपञ्च निशिदिन, कर-कर ज़रको जमाते हैं ।
आखिर भी यह धनसे कभी न, अच्छा पुण्य कमाते हैं ॥अमूल्य॥२॥
धर्मबन्धुसे झगड़े कर-कर, राजसभामें जाते हैं ।
और धर्मकी पवित्र लक्ष्मी, झगड़ेमें ही उड़ाते हैं ॥अमूल्य॥३॥

बैरी संगमें बसन बढ़ाके, निज घरमें ही बिठाते हैं।
अपने जनको बैरी समझके, उनका बुरा मनाते हैं ॥अमूल्य॥३॥
आमदनीसे खर्च बढ़ाकर, आप बड़ाई चाहते हैं।
परमारथमें पैर धरत नहिं, उनसे मुँह फिराते हैं ॥अमूल्य॥४॥
दुर्बुद्धि—वशवर्ती मनके, अन्यायको भी खाते हैं।
अनुचित कर्म करत सुखकारण, फिरफिर दुखको पाते हैं ॥अमूल्य॥५॥
'सन्तशिष्य' के परमसेवकके, प्रवचनको ठुकराते हैं।
सम दम सेवा, दया प्रेमधन, छोड़ि नरक-पथ जाते हैं ॥अमूल्य॥६॥

१३
संगतिका प्रभाव।
(राग-पूर्ववत्)

जिनकी सोबत रहत सर्वदा उनके लक्षण आते हैं।
ज्ञानीकी संगतिसे हरगिज, आतम लक्ष्मी कमाते हैं ॥१॥
प्रहरीका नित प्रहर बढ़ावे, शत्रु वैरफल बोते हैं,
द्वेषी मित-मित द्वेष बढ़ाकर, जीवन धूल मिलाते हैं ॥२॥
मूर्खकी सङ्गति मूर्ख बनावत, शठसङ्गी शठ होते हैं,
पवित्र पवित्रके परिचयसे, पवित्र पदको पाते हैं ॥३॥
भ्रष्टकी सङ्गति भ्रष्ट बनावत, नरकोंमें ही गिराते हैं,
सज्जन सुगुणी सन्तकी सङ्गति, अमृत स्वाद चखाते हैं ॥४॥
नीच निर्गुणी नीच बनावत प्रेमी प्रेम जगाते हैं,
जिसमें जैसी शक्ति होत है, वैसे अनुभव आते हैं ॥५॥
जैसा भाव भरा जिस मनमें मुखसे वही बताते हैं,
दर्पदोषको कभी न करिये 'सन्तशिष्य' समझाते हैं ॥६॥

१४

सच्चे गुरु

(लावनी-राग-पूर्ववत्)

जिसने अपना दोष मिटाया, वह परदोष मिटावेगा ।
ऐसा पावस मुर्शिद मौला, मनका मैल मिटावेगा ॥१॥
काले कर्म कटे सो कलमा, प्यारा होके पढ़ावेगा ।
भ्रमण स्थान भीतरका तोड़े, अद्‌भुत ख्याल बतावेगा ॥२॥
खरा खल्क का ख्याल करावे, शुद्ध स्वरूप सुनावेगा ।
अखूट जो आनन्द खजाना, अनुभवमें तब आवेगा ॥३॥
अखण्ड होत उजाला ऐसा, प्रेम पियाला प्यावेगा ।
चौरासी लख फेरी चुकाके, जन्म मरण दुख जावेगा ॥४॥
गुन कर गोली देत ज्ञानकी, रोग सभी मिट जावेगा ।
'सन्तशिष्य' भव अन्त कराके, जयकर खेल जमावेगा ॥५॥

१५

(लावनी-राग पूर्ववत्)

जिस नगरीमें न्याय मिलेना, उस नगरीमें रहना क्या ? ।
सत्य वचनको कोई सुने ना, उसके आगे कहना क्या? ॥१॥
औषधकी कीमत नहिं जानत, औषध उन्हें पिलाना क्या? ।
जहाँ जानेसे बढ़े विषमता, उस स्थलमें फिर जाना क्या? ॥२॥
जिस भोजनसे भूख मिटेना, उस भोजनको खाना क्या? ।
जिस गानेसे हृदय गलेना, उस गानेको गाना क्या ? ॥३॥
मरने तक भी मर्म न पावे, मूरख हो वहाँ मरना क्या ? ।
जहाँ कदर नहीं काम छोड़के, फोकटका वहाँ फिरना क्या? ॥४॥
जहाँ न्हानेसे मैल मिटेना, उस स्थलपर फिर न्हाना क्या? ।
समझेगा यह भेदु औरको, 'सन्तशिष्य' समझाना क्या? ॥५॥

बैरी संगमें वक्त बढ़ाके, निज घरमें ही बिठाते हैं।
अपने बनको बैरी समझके, उनका बुरा बनाते हैं ॥अमूल्य॥४॥
आमदनीसे खर्च बढ़ाकर, आप बड़ाई बताते हैं।
परमारथमें पैर धरत नाँहि, उनसे मुँह फिराते हैं ॥अमूल्य॥५॥
दुर्बुद्धि—बराबरी बनके, असावाको भी खाते हैं।
अनुचित कर्म करत सुखकारन, फिरफिर दुखको पाते हैं ॥अमूल्य॥६॥
'सन्तशिष्य' के परमदेवके प्रवचनको ठुकराते हैं।
सम दम सेवा दया प्रेमधन, कोई नरकपथ जाते हैं ॥अमूल्य॥७॥

१३

संगतिका प्रभाव।

(राग-पूर्ववत्)

जिनकी सौबत रहत सर्वदा, उनके लक्षण आते हैं।
ज्ञानीकी संगतिसे हरगिज, आतम लक्ष्मी कमाते हैं ॥१॥
फाहरीका नित फाहर पढ़ाते, शत्रु बैरफल बोते हैं,
प्रेमी नित-मित प्रेम बढ़ाकर, जीवन मूल मिलाते हैं ॥२॥
मूर्खकी सङ्गति मूर्ख बनावत, शठसङ्गी शठ होते हैं,
पवित्र पण्डितके परिचयसे, पण्डित पदको पाते हैं ॥३॥
भ्रष्टकी सङ्गति भ्रष्ट बनावत, नरकोंमें ही गिराते हैं,
सज्जन सुगुणी सन्तकी सङ्गति, अमृत स्वाद चखाते हैं ॥४॥
नीच निर्गुणी नीच बनावत, प्रेमी प्रेम प्रगटाते हैं,
जिसमें जैसी शक्ति होत है, वैसे अनुभव आते हैं ॥५॥
जैसा माल भरा निज मनमें, मुखसे वही बताते हैं,
दुर्जनको कभी न करिये 'सन्तशिष्य' समझाते हैं ॥६॥

१८

कृतकृत्य

(गजल क़व्वाली)

लगा जिन इश्क़का धूना, हुआ संसार सब सूना।
अजब आशिक़ दिवानेको, नसीहत क्या बताना है ॥ १ ॥
पिया जिन प्रेमका प्याला, हुआ वह इश्क़ मतवाला।
जलै जहाँ इश्क़की ज्वाला, उसे फिर क्या जलाना है ॥ २ ॥
मिला जिन्हें भेद निज घरका, रहा ना भेद निजपरका।
सीखा है इल्म ईश्वरका, उसे फिर क्या सिखाना है ॥ ३ ॥
मर्मको पा लिया जिसने, लिया आनन्द है उसने।
दिखा दिलदारको जिसने, उसे फिर क्या दिखाना है ॥ ४ ॥

१९

लोभी जनको

(कॉनड़ा)

लख लानत लोभी जनकों, लख लानत लोभी जनको ॥टेक॥
खरे कार्यमें खर्च किया नहीं, धूल किया सब धनको।
परमारथमें पाँव न दीना, बुरा किया बदनको ॥ लख० ॥ १ ॥
पामर केवल रहा पापमें, ताप दिलाया तनको।
सूम महा मक्खी चूस जैसे, मूमण मेला मनको ॥ लख० ॥ १ ॥
दूसरे दुर्गण सरिता सम हैं, यह सागर दुर्गुणको।
यह भव पर भव दोनों बिगाड़त, शिष्य कहे संतनको ॥लख०॥ ३ ॥

१६

कहाँ तक नींद में रहेंगे ?

(ग़ज़ल)

कर्म करके घरा मुल्को, हमारी बातको सुनिये।
जरूरतके समयमें भी, कहाँ तक नींदमें रहेंगे? ॥ १ ॥
तुम्हारी घोर निद्रासे, जन्म सब भारतका बिगड़े।
जगमें हैं सभी सज्जन, कहाँ तक नींदमें रहेंगे? ॥ २ ॥
जमाना बहुतसा भगका, प्रमादोंसे गँवाया है।
तथापि घोर निद्रा में, कहाँ तक नींदमें रहेंगे? ॥ ३ ॥
सभी जो जायगा तब क्या, तुम्हारी नींद जागेगी।
बाद होगी परेशानी, कहाँ तक नींदमें रहेंगे? ॥ ४ ॥
जगे हैं बहुत जन जगमें जगाते हैं बिरादरको।
प्रमादोंके बिछौनोंमें, कहाँ तक नींदमें रहेंगे? ॥ ५ ॥
वक्त है अल्प अलसोका, काम हैं बहुत करनेके।
'सन्तके शिष्य' अब कहिये, कहाँ तक नींदमें रहेंगे? ॥ ६ ॥

१७

पतनकी अवधि

(ग़ज़ल कव्वाली)

जमाना बेखबर खोया, कल्पको काट विष बोया।
कजाकी नींदमें सोया, उसे फिर क्या जगाना है ॥ १ ॥
पड़ा शैतानके पंजर, खुशीसे खा लिया खंजर।
सताते मोहके कुंजर, उसे फिर क्या सताना है ॥ २ ॥
रहे जो पापका प्यासा, जासके स्थान नहिं त्रासा।
लगा जिन मानका फाँसा, उसे फिर क्या फँसाना है ॥ ३ ॥
कर्म जाले सदा कीया, जहरका घोट कर पीया।
गँवाया जन्म सब जिसने उसे फिर क्या गँवाना है ॥ ४ ॥

२२

जरासी भूल

(राग–आशावरी)

भूल जरासी दुःख करतु है, अनुभवि जन भी यही कहतु है।
एकवचन उलटा कहनेसे, खूब हृदयमें फिर खटकतु है ॥भू० ॥१॥
एक क्रिया अघटित करनेसे, भव जगलमें वह भटकतु है ॥भू०॥२॥
अग्निकी तीक्ष्ण चिनगारी, भुवन बहुतको भस्म करतु है ॥भू०॥३॥
किंचितक्लेश वढ़ी वढ़ी आख़िर, ज़हर भयङ्कर रूप करतु है॥भू०॥४॥
अल्प भूल आरोग्य बिगाड़त, प्रबल दरद तनुमें प्रगटतु है॥भू०॥५॥
सीढ़ीपरसे पैर हटै तब, भूतलपर उनको पटकतु है ॥भू०॥६॥
कार्य सभी छोटेके मोटे, बेदरकारीसे बिगड़तु है ॥भू०॥७॥
'सन्तशिष्य' भेदु समझतु है, भूला वह भवमें भटकतु है ॥भू०॥८॥

२३

समझे सो सुख पावे

(राग–आशा गोड़ी)

समझे सो सुख पावे साधू, समझे सो सुख पावे। साधू० ॥ टेक ॥
शास्त्र दृष्टि गुरु वचन विचारसे, घटदीपक प्रगटावे ॥साधू० ॥१॥
वह देखत है हित अहितको, अन्तर ध्यान लगावे ॥ साधू० ॥२॥
बिना विचार करत जो कारज, अन्धा हो अथड़ावे ॥ साधू० ॥३॥
समझ बिना जो औषध खावे, वह मूरख मर जावे ॥ साधू० ॥४॥
मीचि नयन जो चले कुपथमें, वह नर ख़तरा खावे ॥ साधू० ॥५॥
[illegible]शिष्य' नर स्याना वह जो, समझि समझि गुणगावे ॥साधू०॥६॥

२०

आत्मिक भ्रमणकी समालोचना

(राग—बिलावर अथवा आसावरी)

इत-उत तू इत काल गँवाया, पता भरका कभी न पाया।
तारक पदके तरनी बिठाया, दुख दरियाके बीचमें डुबाया ।।इत०।।१
मेघू हैं यों कहके झुलाया, उनके फन्दमें ही फँसाया।
झूठ समझाकर खूब ठगाया, सत्य कभी मुझको न सुनाया ।।इत०।।२
अमृत रस विषमें ही बताया, लेकर मोल किया विन खाया।
पहले संत महंत दिखाया, फिर मुझको झगड़ेमें झुकाया ।।इत०।।३
स्वारथमें कछु नहिं समुझाया, आखिरमें परितापमें पाया।
'संतशिष्य' जब सद्गुरु पाया, तब अनुभव अन्तर नहिं आया ।।इत०।।४

२१

भावनिद्रा

(राग—पूर्ववत्)

सोवत-सोवत रैन गँवाई, भरमकी कछु शुद्धि न पाई।
सपने के से सब व्यवहारो, वे झगड़े बिन मूल सपाई ।।सो०।।१।।
पीया बहुरी मोह मदिरा, झूठका सोच दिया समुझाई ।।सो०।।२।।
समझ बिना मुलके सब साधन अति बारुण भये दुखदाई ।।सो०।।३।।
पाये समयको नहिं पहिचाना, गाफिल निशिदिन गयेउ बिताई ।।सो०।।४।।
जोड़-जोड़ विष पदमें राजत, अमृतको देखे बहुबार ।।सो०।।५।।
'सन्तशिष्य' जागे जन सब लगि, अवसर दीप न जात बुझाई ।।सो०।।६।।

२६

वीरका प्याला

(राग—पूर्ववत्)

प्याला वीरका कौन पिलाय—प्याला० ॥
प्रेमसहित पिलाय पियाला, जन्म मरण दुःख जाय ॥प्याला०॥१॥
इस रसमें हो मस्त मुनिजन, सिद्धि स्वरूपको पाय ।
पीनेवाला अमर पियाला, देवरूप बन जाय ॥प्याला०॥२॥
अन्धकार मीहे अन्तरका, दिव्यनयन खुल जाय ।
'सन्तशिष्य' अनुभवी इस रसका, प्रेमसे भरके पिलाय ॥प्याला०॥३॥

२७

विपथगामी मुमुक्षु का आर्त्तनाद ।

(राग—आशावरी)

मुझको कहाँ जाना ? बतादे पथ मुझको कहाँ जाना !
भूला मारग दिश न सुझत, कहाँ ठोकर खाना ! बता दे० ॥१॥
कहाँ तू छिपा प्रभु ! विरह-व्यथामें, कहा तक अकुलाना ।
कहां जाना इस घोर तिमिरमें, किस विधसे पाना ॥ बता दे० ॥२॥
क्यों आवाज न सुनते मेरा ! किसी ओर आना ।
थरथर काँपूँ भयके स्थलमें, किसको बुलवाना ॥ बता दे० ॥३॥
कहाँ भटकूँ मैं इत-उत ढूँढ़त, पथ है अनजाना ।
'सन्तशिष्य' शरणागत तुझ बिन, किसका गुण गाना॥ बता दे० ॥४॥

२८

उनको सन्त कौन कहेंगे ?

(राग-भैरवी)

समझ से रे कौन ये संत कहेंगे, मूर्ख न मर्म लहेंगे रे ॥ टेक ॥
परमारथ कह करके अपने, स्वारथमें सपडावे ।
कहत एक अरु करत और शठ, भोलेको भरमावे रे ॥१॥ कौन० ।

२४

प्रबोधन

(राग—बिहाग)

जाग मुसाफिर देख जरा, तन मींद अब क्यों सो रहा।
जाग रही दुनियाँ सारी, तुम किसके सन्मुख रोय रहा ॥१॥
उत्तम बीज बोने समय, इस फिकरमें क्या खो रहा।
पुरुषार्थसे तुम लक्ष्मीको, पाने समय क्यों खो रहा ॥२॥
हुशियार हो हुशियार हो, तेरे समीप क्या हो रहा।
'सम्यशिष्य' दिन बीत गये, अब बाकीका दिन दो रहा ॥३॥

२५

वह नर पशु समान

(राग—आशावरी)

वह नर पशु समान, विचार बिनु नर है पशु ॥टेक॥
आर्य भूमि उत्तम स्थल आये, आकर मायामें लपटाये
साँची कौड़ी नहीं कमाई, मीच लक्ष्य नादान ॥विचार०॥१॥
परमारथमें पाई न दीनो, काम एक उत्तम नहिं कीनो।
प्रभुको अपने कर नहीं लीनो, किया दम्भ अभिमान ॥विचार०॥२॥
कंचन कामिनिमें मन मोहा मोद कपट दस बीचमें सोया।
अमूल्य साधन सब तुम खोया भजे न कभी भगवान ॥विचार०॥३॥
बुरे-बुरे फलको बोया, हँस हँस कर निज हितको खोया,
अन्तकालमें रंक हो रोया, धरत मलिन नित ध्यान ॥विचार०॥४॥
पथ्यापथ्यको नहिं पहिचाना, उलटा किया है अपना रास्ता।
'सम्यशिष्य' कहें वही दिवाना, भूल गया निज मान ॥विचार०॥५॥

२६

वीरका प्याला

(राग—पूर्ववत्)

प्याला वीरका कौन पिलाय—प्याला० ॥
प्रेमसहित पिलाय पियाला, जन्म मरण दुःख जाय ॥प्याला०॥१॥
इस रसमें हो मस्त मुनिजन, सिद्धि स्वरूपको पाय।
पीनेवाला अमर पियाला, देवरूप बन जाय ॥प्याला०॥२॥
अन्धकार मीहे अन्तरका, दिव्यनयन खुल जाय।
'सन्तशिष्य' अनुभवी इस रसका, प्रेमसे भरके पिलाय ॥प्याला०॥३॥

२७

विपथगामी मुमुक्षु का आर्त्तनाद।

(राग—आशावरी)

मुझको कहाँ जाना? बतादे पथ मुझको कहाँ जाना!
भूला मारग दिश न सुझत, कहाँ ठोकर खाना! बता दे० ॥१॥
कहाँ तू छिपा प्रभु! विरह-व्यथामें, कहा तक अकुलाना।
कहा जाना इस घोर तिमिरमें, किस विध से पाना ॥ बता दे० ॥२॥
क्यों आवाज न सुनते मेरा! किसी ओर आना।
थरथर काँपूँ भयके स्थलमें, किसको बुलवाना ॥ बता दे० ॥३॥
कहाँ भटकूँ मैं इत-उत ढूँढ़त, पथ है अनजाना।
'सन्तशिष्य' शरणागत तुझ बिन, किसका गुण गाना॥ बता दे० ॥४॥

२८

उनको सन्त कौन कहेंगे?

(राग-भैरवी)

समझ से रे कौन ये संत कहेंगे, मूर्ख न मर्म लहेंगे रे ॥ टेक ॥
परमारथ कह करके अपने, स्वारथमें सपड़ावे।
कहत एक अरु करत और शठ, भोलेको भरमावे रे ॥१॥ कौन०।

नगरमाल मझारे न पड़े कछु, उधार कहके लड़ावे।
शरणा लीना सत्य समझ के, लेकर बीच लटकावे रे ॥२॥ कौन०
संगी बनाके संगमें लीना, मारग बीच मरावे।
कीना गुरु कुल नाम न लीना, मझधार बीच डुबावे रे ॥३॥ कौन०
व्याधि बहुत बढ़ाई दवा से, (उस) वैद्यको कौन बुलावे।
तारक समुझि तरणी जब बैठे, दरिया बीच डुबावे रे ॥४॥ कौन०।
'संतशिष्य' बिनु संत चरननिमें, अमी रस कौन पिलावे।
छूट गया सब जग पद जिसका, कछु नहीं सुहावे रे ॥५॥ कौन०।

२६

अलभ्य मौका

(राग—भजन)

और नहीं आवेगा अवसर, और नहीं आवेगा रे जी।
क्यों विषयमें भया दिवाना, आखिर मिट्टीमें मिल जानारे ॥ टेक ॥
महल मंदिर माल खास पर, मोहक सभी भरमानारेजी।
आयु छूटे तब पड़ा रहे सब, आशा अवर जमाना, तब मन आसा ॥१॥ और०
आखिर अलग रहे सब संगी, अपने भार उठानारेजी
झूठ कपट से बेहद कमाया, खाता मिले न खाना, खामे खाया ॥२॥ और०।
पाया पार किया धन तो भी, प्रभुको नहीं पहिचाना रे जी,
देह छूटेगा यमपाशीसे खराब होगा खाना, आखिर खराब ॥३॥ और०।
असमझदारका वहाँ न चलेगा, पड़ा था परवाना रे जी
अभिमान तब अलग रहेगा, पापोंसे पछताना जो जब पापों ॥४॥ और०।
सोवेगा वह नर रोवेगा, फन्दोंमें फस जानारे जी;
प्यारी निद्रा करो मगनसे जीवनपूर्ण जगाना प्यारे जीवन ॥५॥ और०।
भूलेंगे सो भव भटकेंगे, पामर सभी पीड़ानारेजी;
'संतशिष्य' तज काम समझ, पड़े नहीं पछताना ॥६॥ और०।

३०

(राग-पूर्ववत्)

क्या देखे दर्पणमें मुखड़ा क्या देखे दर्पणमें रे जी;
महामैल भराया मनमें, मुखड़ा क्या देखे दर्पणमें रे जी।
खाया पीया खेल उड़ाया, धुँआ लगाया धनमें रेजी;
गंडु सम सब काल गमाया, बहुत रहा बचपन में ॥१॥ मुखड़ा०।
मुख माँजत-आँजत अँखियाँ नित, ताल करत जब तनमें रेजी।
पीया जहरी मोह मदिरा, मूरख रहा मगन में ॥२॥ मुखड़ा०।
जब पिंजरसे प्राण छुटेंगे, छाक हटेगी छिन में रेजी।
दास सदा गुरुदेवचन्द्रका, कोमल कहे वचन में ॥३॥ मुखड़ा०।

३१

कब अमलमें लायेंगे ?

(राग-भैरवी लावनी)

प्रभुवीरके फरमानको तुम, कब अमलमें लायेंगे।
महावीर धीर उदारको तुम, कब पुनः झलकायेंगे ॥महा० ॥१॥
तुम अमीर होकर जब परिचय कार्य्यसे बतलायँगे।
अति पुनित पूर्वज वीरके, ऋणसे तभी छुट जायँगे ॥महा० ॥२॥
मृतवत् पड़े हैं बहिन-बन्धु, जीवन ज्योति जगायँगे।
लक्ष्मी भरे बादल अरे! कहो कब यहाँ बरसायँगे ॥महा० ॥३॥
नवजीवन प्रेरक बीजली, तुम कब अहो चमकायेंगे।
कब तिमिरदलको तोड़कर, ज्योति अखण्ड जगायँगे ॥महा० ॥४॥
जो कृपणताकी छाप है, कब उसे दूर हटायँगे।
विद्या बढ़ाकर विश्वमें, जिनमार्ग जरूर दिखायँगे ॥महा० ॥५॥
आतस जलाकर हृदयमें, यह वीर लगन लगायँगे।
हो 'सन्तशिष्य' सफल तभी तुम, धन्य जन्म कहायँगे ॥महा० ॥६॥

३२

करो हंसके काम।

(दोहा)

आलस भोगी मत रहो, काम करो नहिं रपम ।
कौआ-कर्म करो नहीं, करो हंसके काम ॥ १ ॥
बैठो धर्मके तीरपर, निर्मल करो विश्राम ।
नीर क्षीर न्यारे करो, करो हंस के काम ॥ २ ॥
दुष्फलको त्यागकर, कभी न चूंथो चाम ।
ध्यानपनाको छोड़कर, करो हंसके काम ॥ ३ ॥
मलिन नीरसे मुक्त हो, बसो हंसके ठाम ।
बग जैसे ठग मत बनो, करो हंसके काम ॥ ४ ॥
मत चूभो दुखको कभी रहो धर्मके धाम ।
रमो हंसके राज्यमें, करो हंसके काम ॥ ५ ॥
पामरसेवा परिहरो, रमो हृदयमें राम ।
घुघुआना पढ़से तजो, करो हंसके काम ॥ ६ ॥
बगकर चुग न खाइये, इसको छोड़ हराम ।
सूअर संगति छोड़कर, करो हंसके काम ॥ ७ ॥
अमृतरस आस्वाद लो, अमृत तत्त्वके ठाम
गोबरके न गुलाम हो करो
रज तज कर भजको भजो, [illegible]
'समदशिष्य' सत्य पाओगे, करो हंसके